नारीजीवन

की

कहानियाँ

: लेखक :

प्रेमचन्द

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
बम्बई ।

सरस्वती-प्रेस,
बनारस ।

प्राक्कथन

स्वनामधन्य स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की यों तो प्रायः सभी कहानियाँ सुरुचि-संगत और पवित्र भावों से ओत-प्रोत हैं और उन्हें सभी स्त्री-पुरुष निःसंकोच होकर पढ़ते-पढ़ाते हैं; परन्तु यह संग्रह एक विशेष दृष्टि से केवल शिक्षित कुमारियों और गृहिणियों के लिए तैयार किया गया है। इसमें केवल वे ही कहानियाँ चुनी गई हैं जिनमें विविध अवस्थाओं और परिस्थितियों में से गुजरते हुए इस देश के नारीजीवन पर प्रकाश पड़ता है और उसमें उपस्थित होनेवाले विविध प्रश्नों का कुछ समाधान मिलता है।

हमारे देश में भी स्त्री-शिक्षा का विस्तार बड़ी तेज़ी से हो रहा है। उसकी प्रगति में बाधा नहीं डाली जा सकती। डालना उचित भी नहीं है। फिर भी इस शिक्षा के साथ-साथ फूलों में काँटों के समान अज्ञात रूप से जो अनिवार्य दोष भी आ जाते हैं, उनसे सावधान रहने की बहुत आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि यह संग्रह मनोरंजन के साथ-साथ उक्त दोषों से बचाने में सहायक होगा और इससे हमारे देश के नारीजीवन को अधिकाधिक उन्नत, विकसित, सुख-शान्तिमय और पवित्र बनने की प्रेरणा मिलेगी।

मुंशी प्रेमचन्दजी 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त के कायल नहीं थे। वे और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलनेवालों में थे। उन्होंने एक जगह कहा है कि 'कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति को पुष्ट करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है, पर, ऐसा कोई भी रुचिगत मानसिक या आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयो-

गिता-युक्त वस्तु है।' गरज यह कि उनकी कला कोरी कला नहीं है, वह अपनी उपयोगिता भी रखती है, अतएव यह संग्रह उपयोगी तो है ही, उच्चश्रेणी की अनन्य साधारण कला से युक्त भी है।

हमारी समझ में यह संग्रह महिला-विद्यालयों और कन्या-पाठशालाओं की उच्च कक्षाओं में पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में बहुत उपयुक्त हो सकता है और पठित स्त्री-समाज में तो इसका आदर होना ही चाहिये। जहाँ तक हम जानते हैं, इस ढंग का यह पहला ही संग्रह है।

बम्बई
२४-८-'३८

संग्राहक—
नाथूराम प्रेमी

एक। किसी ने मीन-मेख न की। यहाँ तक कि पं० अयोध्यानाथ भी उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ न करते थे; पर आज उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से उसके हुक्म की उपेक्षा की जा रही है। इसे वह क्योंकर स्वीकार कर सकती?

कुछ देर तक तो वह ज़ब्त किये बैठी रही; पर अन्त में न रहा गया। स्वायत्त शासन उसका स्वभाव हो गया था। वह क्रोध में भरी हुई आई और कामतानाथ से बोली—क्या आटा तीन ही बोरे लाये? मैंने तो पाँच बोरों के लिए कहा था। और घी भी पाँच ही टिन मँगवाया। तुम्हें याद है, मैंने दस कनस्तर कहा था? किफ़ायत को मैं बुरा नहीं समझती; लेकिन जिसने यह कुआँ खोदा उसी की आत्मा पानी को तरसे, यह कितनी लज्जा की बात है!

कामतानाथ ने क्षमा-याचना न की, अपनी भूल भी स्वीकार न की, लज्जित भी नहीं हुआ। एक मिनिट तो विद्रोही भाव से खड़ा रहा, फिर बोला—हम लोगों की सलाह तीन ही बोरों की हुई और तीन बोरे के लिए पाँच टीन घी काफ़ी था। इसी हिसाब से और चीज़ें भी कम कर दी गईं।

फूलमती उग्र होकर बोली—किसकी राय से आटा कम किया गया?

'हम लोगों की राय से।'

'तो मेरी राय कोई चीज़ नहीं है?'

'है क्यों नहीं; लेकिन अपनी हानि-लाभ तो हम भी समझते हैं।'

फूलमती हक्का-बक्का होकर उसका मुँह ताकने लगी। इस वाक्य का आशय उसको समझ न आया। अपना हानि-लाभ! अपने घर में हानि-लाभ की जिम्मेदार वह आप है। दूसरों को, चाहे वे उसके पेट के जन्मे पुत्र ही क्यों न हों, उसके कामों में हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार? यह लौंडा तो इस तरह ढिठाई से जवाब दे रहा है, मानो घर उसी का है, उसी ने मर-मरकर गृहस्थी जोड़ी है, मैं तो ग़ैर हूँ! ज़रा इसकी हेकड़ी तो देखो।

उसने तमतमाये हुए मुख से कहा—मेरी हानि-लाभ के ज़िम्मेदार तुम नहीं हो। मुझे अख़्तियार है, जो उचित समझूँ वह करूँ। अभी जाकर दो बोरे आटा और पाँच टिन घी और लाओ और आगे के लिए ख़बरदार, जो किसी ने मेरी बात काटी।

अपने विचार में उसने काफ़ी तम्बीह कर दी थी। शायद इतनी कठोरता अनावश्यक थी। उसे अपनी उग्रता पर खेद हुआ। लड़के ही तो हैं, समझे होंगे कुछ किफ़ायत करनी चाहिये। मुझसे इसलिए न पूछा होगा, कि अम्माँ तो खुद हरेक काम में किफ़ायत किया करती हैं। अगर इन्हें मालूम होता, कि इस काम में मैं किफ़ायत पसन्द न करूँगी, तो कभी इन्हें मेरी उपेक्षा करने का साहस न होता। यद्यपि कामतानाथ अब भी उसी जगह खड़ा था और उसकी भाव-भङ्गी से ऐसा ज्ञात होता था, कि इस आज्ञा का पालन करने के लिए वह बहुत उत्सुक नहीं है पर फूलमती निश्चिन्त होकर अपनी कोठरी में चली गई। इतनी तम्बीह पर भी किसी को उसकी अवज्ञा करने का सामर्थ्य हो सकता है, इसकी सम्भावना का ध्यान भी उसे न आया।

पर ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, उस पर यह हक़ीक़त खुलने लगी, कि इस घर में अब उसकी वह हैसियत नहीं रही, जो दस-बारह दिन पहले थी। सम्बन्धियों के यहाँ से नेवते में शक्कर, मिठाई, दही, अचार आदि आ रहे थे। बड़ी बहू इन वस्तुओं को स्वामिनी-भाव से सँभाल-सँभालकर रख रही थी। कोई भी उससे कुछ पूछने नहीं आता। बिरादरी के लोग भी जो कुछ पूछते हैं, कामतानाथ से, या बड़ी बहू से। कामतानाथ कहाँ का बड़ा इन्तज़ामकार है, रात-दिन भङ्ग पिये पड़ा रहता है। किसी तरह रो-धोकर दफ़्तर चला जाता है। उसमें भी महीने में पन्द्रह नाग़ों से कम नहीं होते। वह तो कहो साहब पण्डितजी का लिहाज़ करता है, नहीं अब तक कभी का निकाल देता। और बड़ी बहू-जैसी फूहड़ औरत भला इन बातों को क्या समझेगी। अपने

कपड़े-लत्ते तक तो जतन से रख नहीं सकती, चली है गृहस्थी चलाने। भद होगी और क्या। सब मिलाकर कुल की नाक कटवायेंगे। वक्त पर कोई-न-कोई चीज़ कम हो जायगी। इन कामों के लिए बड़ा अनुभव चाहिये। कोई चीज़ तो इतनी बन जायगी, कि मारी-मारी फिरेगी। कोई चीज़ इतनी कम बनेगी, कि किसी पत्तल पर पहुँचेगी, किसी पर नहीं। आख़िर इन सबों को हो क्या गया है। अच्छा, बहू तिजोरी क्यों खोल रही है। वह मेरी आज्ञा के बिना तिजोरी खोलनेवाली कौन होती है। कुंजी उसके पास है अवश्य ; लेकिन जब तक मैं रुपए न निकलवाऊं, तिजोरी नहीं खोलती। आज तो इस तरह खोल रही है, मानो मैं कुछ हूं ही नहीं। यह मुझसे न बर्दाश्त होगा।

वह झमककर उठी और बड़ी बहू के पास जाकर कठोर स्वर में बोली—तिजोरी क्यों खोलती हो बहू, मैंने तो खोलने को नहीं कहा?

बड़ी बहू ने निस्संकोच भाव से उत्तर दिया—बाजार से सामान आया है, तो उसका दाम न दिया जायगा?

'कौन चीज़ किस भाव से आई है और कितनी आई है, यह मुझे कुछ नहीं मालूम। जब तक हिसाब-किताब न हो जाय, रुपए कैसे दिए जायँ?'

'हिसाब-किताब सब हो गया है।'

'किसने किया?'

'अब मैं क्या जानूँ किसने किया। जाकर मरदों से पूछो। मुझे हुकुम मिला, रुपए लाकर दे दो, रुपए लिये जाती हूँ।'

फूलमती ख़ून का घूँट पीकर रह गई। इस वक्त बिगड़ने का अवसर न था। घर में मेहमान स्त्री-पुरुष भरे हुए थे। अगर इस वक्त उसने लड़कों को डाँटा, तो लोग यही कहेंगे कि इनके घर में पण्डितजी के मरते ही फूट पड़ गई। दिल पर पत्थर रखकर फिर अपनी कोठरी में चली आई। जब मेहमान बिदा हो जायँगे, तब वह एक-एक

की ख़बर लेगी। तब देखेगी कौन उसके सामने आता है और क्या कहता है। इनकी सारी चौकड़ी भुला देगी।

किन्तु कोठरी के एकान्त में भी वह निश्चिन्त न बैठी थी। सारी परिस्थिति को गिद्ध-दृष्टि से देख रही थी। कहाँ सत्कार का कौन-सा नियम भंग होता है, कहाँ मर्यादाओं की उपेक्षा की जाती है। भोज आरम्भ हो गया। सारी बिरादरी एक साथ पङ्गत में बिठा दी गई। आँगन में मुश्किल से दो सौ आदमी बैठ सकते हैं। ये पाँच सौ आदमी इतनी-सी जगह में कैसे बैठ जायँगे? क्या आदमी के ऊपर आदमी बिठाये जायँगे? दो पङ्गतों में लोग बिठाये जाते तो क्या बुराई हो जाती? यही तो होता कि बारह बजे की जगह भोज दो बजे समाप्त होता; मगर यहाँ तो सबको सोने की जल्दी पड़ी हुई है। किसी तरह यह बला सिर से टले और चैन से सोयें! लोग कितने सटकर बैठे हुए हैं कि किसी को हिलने की भी जगह नहीं। पत्तल एक पर एक रखे हुए हैं। पूरियाँ ठण्ढी हो गईं, लोग गरम-गरम माँग रहे हैं। मैदे की पूरियाँ ठण्ढी होकर चिमड़ी हो जाती हैं। इन्हें कौन खायेगा। रसोइए को कढ़ाव पर से न जाने क्यों उठा दिया गया। यही सब बातें नाक कटाने की हैं।

सहसा शोर मचा, तरकारियों में नमक नहीं। बड़ी बहू जल्दी-जल्दी नमक पीसने लगी। फूलमती क्रोध के मारे ओठ चबा रही थी; पर इस अवसर पर मुँह न खोल सकती थी। बारे नमक पिसा और पत्तलों पर डाला गया। इतने में फिर शोर मचा— पानी गरम है, ठण्ढा पानी लाओ। ठण्ढे पानी का कोई प्रबन्ध न था, बर्फ़ भी न मँगाई गई थी। आदमी बाज़ार दौड़ाया गया; मगर बाज़ार में इतनी रात गये बर्फ़ कहाँ। आदमी खाली हाथ लौट आया। मेहमानों को वही नल का गरम पानी पीना पड़ा। फूलमती का बस चलता, तो लड़कों का मुँह नोच लेती। ऐसी छीछालेदर उसके घर में कभी न हुई थी।

उस पर सब मालिक बनने के लिए मरते हैं ! बर्फ़ जैसी ज़रूरी चीज़ मँगवाने की किसी को सुधि न थी। सुधि कहाँ से रहे। जब किसी को गप लड़ाने से फ़ुर्सत मिले। मेहमान अपने दिल में क्या कहेंगे कि चले हैं बिरादरी को भोज देने और घर में बर्फ़ तक नहीं।

अच्छा, फिर यह हलचल क्यों मच गई। अरे, लोग पङ्गत से उठे जा रहे हैं। क्या मामला है ?

फूलमती उदासीन न रह सकी। कोठरी से निकलकर बरामदे में आई और कामतानाथ से पूछा— क्या बात हो गई लल्ला ? लोग उठे क्यों जा रहे हैं ?

कामता ने कोई जवाब न दिया। वहाँ से खिसक गया। फूलमती झुँझलाकर रह गई। सहसा घर की कहारी मिल गई। फूलमती ने उससे भी वही प्रश्न किया। मालूम हुआ किसी के शोरबे में मरी हुई चुहिया निकल आई। फूलमती चित्र-लिखित-सी वहीं खड़ी रह गई। भीतर ऐसा उबाल उठा कि दीवार से सिर टकरा ले। अभागे भोज का प्रबन्ध करने चले थे। इस फूहड़पन की कोई हद है, कितने आदमियों का धर्म सत्यानास हो गया ! फिर पङ्गत क्यों न उठ जाय। आँखों से देखकर अपना धर्म कौन गँवायेगा। हा ! सारा किया-धरा मिट्टी में मिल गया। सैकड़ों रुपए पर पानी फिर गया। बदनामी हुई वह अलग।

मेहमान उठ चुके थे। पत्तलों पर खाना ज्यों का त्यों पड़ा हुआ था। चारों लड़के आँगन में लज्जित खड़े थे। एक दूसरे को इलज़ाम दे रहा था। बड़ी बहू अपनी देवरानियों पर बिगड़ रही थीं। देवरानियाँ सारा दोष कुमुद के सिर डालती थीं। कुमुद खड़ी रो रही थी। उसी वक्त फूलमती झल्लाई हुई आकर बोली—मुँह में कालिख लगी कि नहीं ? या अभी कुछ कसर बाकी है ? डूब मरो सब के सब जाकर चिल्लू-भर पानी में ! शहर में कहीं मुँह दिखाने लायक भी नहीं रहे।

किसी लड़के ने जवाब न दिया।

फूलमती और भी प्रचण्ड होकर बोली—तुम लोगों को क्या। किसी को शर्म-हया तो है नहीं। आत्मा तो उनकी रो रही है, जिसने अपनी ज़िन्दगी घर की मरजाद बनाने में खराब कर दी। उसकी पवित्र आत्मा को तुमने यों कलङ्कित किया। सारे शहर में थुड़ी-थुड़ी हो रही है। अब कोई तुम्हारे द्वार पर पेशाब करने तो आयेगा नहीं!

कामतानाथ कुछ देर तक तो चुपचाप खड़ा सुनता रहा। आखिर झुँझलाकर बोला—अच्छा, अब चुप रहो अम्माँ। भूल हुई, हम सब मानते हैं, बड़ी भयङ्कर भूल हुई; लेकिन अब क्या उसके लिए घर के प्राणियों को हलाल कर डालोगी? सभी से भूलें होती हैं। आदमी पछताकर रह जाता है। किसी की जान तो नहीं मारी जाती।

बड़ी बहू ने अपनी सफ़ाई दी—हम क्या जानते थे कि बीबी (कुमुद) से इतना-सा काम भी न होगा। इन्हें चाहिये था कि देखकर तरकारी कढ़ाव में डालतीं। टोकरी उठाकर कढ़ाव में डाल दी। इसमें हमारा क्या दोष।

कामतानाथ ने पत्नी को डाँटा—इसमें न कुमुद का क़सूर है, न तुम्हारा, न मेरा। संयोग की बात है। बदनामी भाग में लिखी थी वह हुई। इतने बड़े भोज में एक-एक मुट्ठी तरकारी कढ़ाव में नहीं डाली जाती। टोकरे-के-टोकरे उँडेल दिये जाते हैं। कभी-कभी ऐसी दुर्घटना हो ही जाती है; पर इसमें कैसी जग-हँसाई और कैसी नक-कटाई। तुम ख़ामख़ाह जले पर नमक छिड़कती हो।

फूलमती ने दाँत पीसकर कहा—शरमाते तो नहीं, उलटे और बेहयाई की बातें करते हो।

कामतानाथ ने निस्सङ्कोच होकर कहा—शरमाऊँ क्यों, किसी की चोरी की है। चीनी में चींटे और आटे में घुन, यह नहीं देखे जाते। पहले हमारी निगाह न पड़ी, बस यही बात बिगड़ गई। नहीं चुपके से चुहिया निकालकर फेंक देते। किसी को ख़बर भी न होती।

फूलमती ने चकित होकर कहा—क्या कहता है, मरी चुहिया खिलाकर सबका धर्म बिगाड़ देता ?

कामता हँसकर बोला—क्या पुराने ज़माने की बातें करती हो अम्माँ। इन बातों से धर्म नहीं जाता। यह धर्मात्मा लोग जो पत्तल पर से उठ गये हैं, इनमें ऐसा कौन है जो भेड़-बकरी का मांस न खाता हो। तालाब के कछुए और घोंघे तक तो किसी से बचते नहीं। ज़रा-सी चुहिया में क्या रखा था।

फूलमती को ऐसा प्रतीत हुआ कि अब प्रलय आने में बहुत देर नहीं है। जब पढ़े-लिखे आदमियों के मन में ऐसे अधार्मिक भाव आने लगे, तो फिर धर्म की भगवान ही रक्षा करें। अपना-सा मुँह लेकर चली गई।

(२)

दो महीने गुज़र गये हैं। रात का समय है। चारों भाई दिन के काम से छुट्टी पाकर कमरे में बैठे गपशप कर रहे हैं। बड़ी बहू भी षड्यन्त्र में शरीक है। कुमुद के विवाह का प्रश्न छिड़ा हुआ है।

कामतानाथ ने मसनद पर टेक लगाते हुए कहा—दादा की बात दादा के साथ गई। मुरारी पण्डित विद्वान् भी हैं और कुलीन भी होंगे। लेकिन जो आदमी अपनी विद्या और कुलीनता को रुपयों पर बेचे, वह नीच है। ऐसे नीच आदमी के लड़के से हम कुमुद का विवाह सेंत में भी न करेंगे, पाँच हज़ार दहेज तो दूर की बात है। उसे बताओ धता और किसी दूसरे वर की तलाश करो। हमारे पास कुल बीस हज़ार ही तो हैं। एक-एक हिस्से में पाँच हज़ार आते हैं। पाँच हज़ार दहेज़ में दे दें, और पाँच हजार नेग-न्योछावर, बाजे-गाजे में उड़ा दें, तो फिर हमारी बधिया ही बैठ जायगी।

उमानाथ बोले—मुझे अपना औषधालय खोलने के लिए कम-से-कम पाँच हज़ार की ज़रूरत है। मैं अपने हिस्से में से एक पाई भी नहीं

दे सकता । फिर दूकान खुलते ही आमदनी तो होगी नहीं । कम-से-कम साल-भर घर से खाना पड़ेगा ।

दयानाथ एक समाचार-पत्र देख रहे थे । आँखों से ऐनक उतारते हुए बोले—मेरा विचार भी एक पत्र निकालने का है । प्रेस और पत्र में कम-से-कम दस हज़ार का कैपिटल चाहिये । पाँच हज़ार मेरे रहेंगे तो कोई-न-कोई साझेदार पाँच हज़ार का मिल जायगा । पत्रों में लेख लिखकर मेरा निर्वाह नहीं हो सकता ।

कामतानाथ ने सिर हिलाते हुए कहा—अजी राम भजो, सेंत में कोई लेख छापता नहीं, रुपए कौन दिये देता है ।

दयानाथ ने प्रतिवाद किया—नहीं, यह बात तो नहीं है । मैं तो कहीं भी बिना पेशगी पुरस्कार लिये नहीं लिखता ।

कामता ने जैसे अपने शब्द वापस लिये—तुम्हारी बात मैं नहीं कहता भाई । तुम तो थोड़ा-बहुत मार लेते हो ; लेकिन सबको तो नहीं मिलता ।

बड़ी बहू ने श्रद्धा-भाव से कहा—कन्या भाग्यवान हो, तो दरिद्र घर में भी सुखी रह सकती है । अभागी हो, तो राजा के घर में भी रोयेगी । यह सब नसीबों का खेल है ।

कामतानाथ ने स्त्री की ओर प्रशंसा-भाव से देखा—फिर इसी साल हमें सीता का विवाह भी तो करना है ।

सीतानाथ सबसे छोटा था । सिर झुकाये भाइयों की स्वार्थ-भरी बातें सुन-सुनकर कुछ कहने के लिए उतावला हो रहा था । अपना नाम सुनते ही बोला—मेरे विवाह की आप लोग चिन्ता न करें । मैं जब तक किसी धन्धे से न लग जाऊँगा, विवाह का नाम भी न लूँगा और सच पूछिये तो मैं विवाह करना ही नहीं चाहता । देश को इस समय बालकों की ज़रूरत नहीं, काम करनेवालों की ज़रूरत है । मेरे हिस्से के रुपए आप कुमुद के विवाह में ख़र्च कर दें । सारी बातें तय हो जाने

के बाद यह उचित नहीं है कि पण्डित मुरारीलाल से सम्बन्ध तोड़ लिया जाय।

उमा ने तीव्र स्वर में कहा—दस हज़ार कहाँ से आयेंगे?

सीता ने डरते हुए कहा—मैं तो अपने हिस्से के रुपए देने कहता हूँ।

'और शेष?'

'मुरारीलाल से कहा जाय कि दहेज में कुछ कमी कर दें। वह इतने स्वार्थान्ध नहीं हैं कि इस अवसर पर कुछ बल खाने को तैयार न हो जायँ; अगर वह तीन हज़ार में सन्तुष्ट हो जायँ, तो पाँच हज़ार में विवाह हो सकता है।'

उमा ने कामतानाथ से कहा—सुनते हैं भाई साहब, इसकी बातें?

दयानाथ बोल उठे—तो इसमें आप लोगों का क्या नुक़सान है। यह अपने रुपए दे रहे हैं, ख़र्च कीजिये। मुरारी पण्डित से हमारा कोई बैर नहीं है। मुझे तो इस बात से खुशी हो रही है कि भला हममें कोई तो त्याग करने योग्य है। इन्हें तत्काल रुपए की ज़रूरत नहीं है। सरकार से वज़ीफ़ा पाते ही हैं। पास होने पर कहीं-न-कहीं जगह मिल ही जायगी। हम लोगों की हालत तो ऐसी नहीं है।

कामतानाथ ने दूरदर्शिता का परिचय दिया—नुक़सान की एक ही कही। हममें से एक को कष्ट हो तो क्या और लोग बैठे देखेंगे? यह अभी लड़के हैं, इन्हें क्या मालूम कि समय पर एक रुपया एक लाख का काम करता है। कौन जानता है, कल इन्हें विलायत जाकर पढ़ने के लिए सरकारी वज़ीफ़ा मिल जाय, या सिविल सर्विस में आ जायँ। उस वक्त सफ़र की तैयारियों में चार-पाँच हज़ार लग जायेंगे। तब किसके सामने हाथ फैलाते फिरेंगे। मैं यह नहीं चाहता कि दहेज़ के पीछे इनकी ज़िन्दगी नष्ट हो जाय।

इस तर्क ने सीतानाथ को भी तोड़ लिया। सकुचाता हुआ बोला—हाँ, यदि ऐसा हुआ तो बेशक मुझे रुपए की ज़रूरत होगी।

'क्या ऐसा होना असम्भव है ?'

'असम्भव तो मैं नहीं समझता ; लेकिन कठिन अवश्य है। वज़ीफे उन्हें मिलते हैं, जिनके पास सिफ़ारिशें होती हैं, मुझे कौन पूछता है।'

'कभी-कभी सिफ़ारिशें धरी रह जाती हैं और बिना सिफ़ारिशवाले बाज़ी मार ले जाते हैं।'

'तो आप जैसा उचित समझें। मुझे तो यहाँ तक मन्जूर है कि चाहे मैं विलायत न जाऊँ ; पर कुमुद अच्छे घर जाय।'

कामतानाथ ने निष्ठा-भाव से कहा—अच्छा घर दहेज़ देने ही से नहीं मिलता भैया। जैसा तुम्हारी भाभी ने कहा, यह नसीबों का खेल है। मैं तो चाहता हूँ कि मुरारीलाल को जवाब दे दिया जाय और कोई ऐसा वर खोजा जाय, जो थोड़े में राजी हो जाय। इस विवाह में मैं एक हज़ार से ज़्यादा नहीं ख़र्च कर सकता। पण्डित दीनदयाल कैसे हैं ?

उमा ने प्रसन्न होकर कहा—बहुत अच्छे। एम० ए०, बी० ए० न सही। जजमानी से अच्छी आमदनी है।

दयानाथ ने आपत्ति की—अम्माँ से भी तो पूछ लेना चाहिये।

कामतानाथ को इसकी कोई ज़रूरत न मालूम हुई। बोले—उनकी तो जैसे बुद्धि ही भ्रष्ट हो गई है। वही पुराने युग की बातें। मुरारीलाल के नाम पर उधार खाये बैठी हैं। यह नहीं समझतीं कि वह ज़माना नहीं रहा। उनको तो बस कुमुद मुरारी पण्डित के घर जाय, चाहे हम लोग तबाह हो जायँ।

उमा ने एक शङ्का उपस्थित की—अम्माँ अपने सब गहने कुमुद को दे देंगी, देख लीजियेगा।

कामतानाथ का स्वार्थ नीति से विद्रोह न कर सका। बोले—गहनों पर उनका पूरा अधिकार है। यह उनका स्त्री-धन है। जिसे चाहें दे सकती हैं।

उमा ने कहा—स्त्री-धन है तो क्या वह उसे लुटा देंगी ? आखिर वह भी तो दादा ही की कमाई है ।

'किसी को कमाई हो । स्त्री-धन पर उनका पूरा अधिकार है ।'

'यह कानूनी गोरखधन्धे हैं । बीस हज़ार में तो चार हिस्सेदार हों और दस हजार के गहने अम्माँ के पास रह जायँ । देख लेना, इन्हीं के बल पर वह कुमुद का विवाह मुरारी पण्डित के घर करेंगी ।'

उमानाथ इतनी बड़ी रक़म को इतनी आसानी से नहीं छोड़ सकता । वह कपट-नीति में कुशल है । कोई कौशल रचकर माता से सारे गहने ले लेगा । उस वक्त तक कुमुद के विवाह की चर्चा करके फूलमती को भड़काना उचित नहीं ।

कामतानाथ ने सिर हिलाकर कहा—भई, मैं इन चालों को पसन्द नहीं करता ।

उमानाथ ने खिसियाकर कहा—गहने दस हज़ार से कम के न होंगे ।

कामता अविचलित स्वर में बोले—कितने ही के हों, मैं अनीति में हाथ नहीं डालना चाहता ।

'तो आप अलग बैठिये । हाँ, बीच में भाँजी न मारियेगा ।'

'मैं अलग रहूँगा ।'

'और तुम सीता ?'

'मैं भी अलग रहूँगा ।'

लेकिन जब दयानाथ से यही प्रश्न किया गया, तो वह उमानाथ से सहयोग करने को तैयार हो गया । दस हज़ार में ढाई हज़ार तो उसके होंगे ही । इतनी बड़ी रक़म के लिए यदि कुछ कौशल भी करना पड़े तो क्षम्य है ।

(३)

फूलमती रात का भोजन करके लेटी थी कि उमा और दया उसके

पास जाकर बैठ गये। दोनों ऐसा मुँह बनाये हुए थे, मानो कोई भारी विपत्ति आ पड़ी है। फूलमती ने सशङ्क होकर पूछा—तुम दोनों घबड़ाये हुए मालूम होते हो।

उमा ने सिर खुजलाते हुए कहा—समाचार-पत्रों में लेख लिखना बड़े जोखम का काम है अम्माँ। कितना ही बचकर लिखो; लेकिन कहीं-न-कहीं पकड़ हो ही जाती है। दयानाथ ने एक लेख लिखा था। उस पर पाँच हज़ार की जमानत माँगी गई है। अगर कल तक जमानत न जमा कर दी गई, तो गिरफ़्तार हो जायँगे और दस साल की सज़ा ठुक जायगी।

फूलमती ने सिर पीटकर कहा—तो ऐसी बातें क्यों लिखते हो बेटा, जानते नहीं हो आजकल हमारे अदिन आये हुए हैं। जमानत किसी तरह टल नहीं सकती?

दयानाथ ने अपराधी भाव से उत्तर दिया—मैंने तो अम्माँ ऐसी कोई बात नहीं लिखी थी; लेकिन क़िस्मत को क्या करूँ। हाकिम जिला इतना कड़ा है कि ज़रा भी रियायत नहीं करता। मैंने जितनी दौड़-धूप हो सकती थी वह सब कर ली।

'तो तुमने कामता से रुपए का प्रबन्ध करने को नहीं कहा?'

उमा ने मुँह बनाया—उनका स्वभाव तो तुम जानती हो अम्माँ, उन्हें रुपए प्राणों से प्यारे हैं। इन्हें चाहे कालापानी ही हो जाय, वह एक पाई न देंगे।

दया ने समर्थन किया—मैंने तो उनसे इसका ज़िक्र ही नहीं किया।

फूलमती ने चारपाई से उठते हुए कहा—चलो मैं कहती हूँ, देगा कैसे नहीं। रुपए इसी दिन के लिए होते हैं कि गाड़कर रखने के लिए।

उमानाथ ने माता को रोककर कहा—नहीं अम्माँ, उनसे कुछ न कहो। रुपए तो न देंगे, उलटे और हाय-हाय मचायेंगे। उनको अपनी

नौकरी की ख़ैरियत मनानी है, इन्हें घर में रहने भी न देंगे। अफ़सरों को जाकर ख़बर दे दें तो आश्चर्य नहीं।

फूलमती ने लाचार होकर कहा—तो फिर ज़मानत का और क्या प्रबन्ध करोगे। मेरे पास तो कुछ नहीं है। हाँ मेरे गहने हैं, इन्हें ले जाव, कहीं गिरों रखकर ज़मानत दे दो। और आज से कान पकड़ो कि किसी पत्र में एक शब्द भी न लिखोगे।

दयानाथ कानों पर हाथ रखकर बोला—यह तो नहीं हो सकता अम्माँ कि तुम्हारे जेवर लेकर मैं अपनी जान बचाऊँ। दस-पाँच साल की क़ैद ही तो होगी, झेल लूँगा। यहीं बैठा-बैठा क्या कर रहा हूँ।

फूलमती छाती पीटते हुए बोली—कैसी बातें मुँह से निकालते हो बेटा, मेरे जीते जी तुम्हें कौन गिरफ़्तार कर सकता है। उसका मुँह झुलस दूँगी। गहने इसी दिन के लिए हैं या और किसी दिन के लिए। जब तुम्हीं न रहोगे, तो गहने लेकर क्या आग में झोंकूँगी।

उसने पिटारी लाकर उसके सामने रख दी।

दया ने उमा की ओर जैसे फ़रियाद की आँखों से देखा, और बोला—आप की क्या राय है भाई साहब? इसी मारे मैं कहता था अम्माँ को जताने की ज़रूरत नहीं। जेल ही तो हो जाती या और कुछ।

उमा ने जैसे सिफ़ारिश करते हुए कहा—यह कैसे हो सकता था कि इतनी बड़ी वारदात हो जाती और अम्माँ को ख़बर न होती। मुझसे यह नहीं हो सकता था कि सुनकर पेट में डाल लेता; मगर अब करना क्या चाहिये, यह मैं खुद निर्णय नहीं कर सकता। न तो यही अच्छा लगता है कि तुम जेल जाओ और न यही अच्छा लगता है कि अम्माँ के गहने गिरों रखे जायँ।

फूलमती ने व्यथित कण्ठ से पूछा—क्या तुम समझते हो मुझे गहने तुमसे ज्यादा प्यारे हैं? मैं तो अपने प्राण तक तुम्हारे ऊपर न्योछावर कर दूँ, गहनों की बिसात ही क्या है।

दया ने दृढ़ता से कहा—अम्माँ, तुम्हारे गहने तो न लूँगा, चाहे मुझ पर कुछ ही क्यों न आ पड़े। जब आज तक तुम्हारी कुछ सेवा न कर सका, तो किस मुँह से तुम्हारे गहने उठा ले जाऊँ। मुझ-जैसे कपूत को तो तुम्हारी कोख से जन्म ही न लेना चाहिये था। सदा तुम्हें कष्ट ही देता रहा।

फूलमती ने भी उतनी ही दृढ़ता से कहा—तुम अगर यों न लोगे, तो मैं खुद जाकर इन्हें गिरों रख दूँगी और खुद हाकिम ज़िला के पास जाकर ज़मानत जमा कर आऊँगी; अगर इच्छा हो तो यह परीक्षा भी ले लो। आँखें बन्द हो जाने के बाद क्या होगा, भगवान् जाने; लेकिन जब तक जीती हूँ, तुम्हारी ओर कोई तिरछी आँखों से देख नहीं सकता।

उमानाथ ने मानो माता पर एहसान रखकर कहा—अब तो हमारे लिए कोई रास्ता नहीं रहा दयानाथ। क्या हरज है, ले लो; मगर याद रखो, ज्योंही हाथ में रुपए आ जायँ गहने छुड़ाने पड़ेंगे। सच कहते हैं, मातृत्व दीर्घ तपस्या है। माता के सिवाय इतना स्नेह और कौन कर सकता है। हम बड़े अभागे हैं कि माता के प्रति जितनी श्रद्धा रखनी चाहिये उसका शतांश भी नहीं रखते।

दोनो ने जैसे बड़े धर्म-संकट में पड़कर गहनों की पिटारी सँभाली और चलते बने। माता वात्सल्य भरी आँखों से उनकी ओर देख रही थी, और उसकी सम्पूर्ण आत्मा का आशीर्वाद जैसे उन्हें अपनी गोद में समेट लेने के लिए व्याकुल हो रहा था। आज कई महीने के बाद उसके भग्न मातृहृदय को अपना सर्वस्व अर्पण करके जैसे आनन्द की विभूति मिली। उसकी स्वामिनी कल्पना इसी त्याग के लिए, इसी आत्म-समर्पण के लिए जैसे कोई मार्ग ढूँढ़ती रहती थी। अधिकार या लोभ या ममता की वहाँ गन्ध तक न थी। त्याग ही उसका आनन्द और त्याग ही उसका अधिकार है। आज अपना खोया हुआ अधिकार पाकर, अपनी सिरजी हुई प्रतिमा पर अपने प्राणों की भेंट करके वह निहाल हो गई।

(४)

तीन महीने और गुजर गये। मा के गहनों पर हाथ साफ़ करके चारों भाई उसकी दिलजोई करने लगे थे। अपनी स्त्रियों को भी समझाते रहते थे कि उसका दिल न दुखायें। अगर थोड़े-से शिष्टाचार से उसकी आत्मा को शान्ति मिलती है, तो इसमें क्या हानि है। चारों करते अपने मन की; पर माता से सलाह ले लेते। या ऐसा जाल फैलाते कि वह सरला उनकी बातों में आ जाती और हरेक काम में सहमत हो जाती। बाग़ को बेचना उसे बहुत बुरा लगता था; लेकिन चारों ने ऐसी माया रची कि वह उसे बेचने पर राज़ी हो गई; किन्तु कुमुद के विवाह के विषय में मतैक्य न हो सका। मा पं० मुरारीलाल पर जमी हुई थी, लड़के दीनदयाल पर अड़े हुए थे। एक दिन आपस में कलह हो गया।

फूलमती ने कहा—मा-बाप की कमाई में बेटी का हिस्सा भी है। तुम्हें सोलह हज़ार का एक बाग़ मिला, पच्चीस हज़ार का एक मकान। बीस हज़ार नक़द में क्या पाँच हजार भी कुमुद का हिस्सा नहीं है?

कामतानाथ ने नम्रता से कहा—अम्माँ, कुमुद आपकी लड़की है, तो हमारी बहिन है। आप दो-चार साल में परस्थान कर जायँगी; पर हमारा और उसका बहुत दिनों तक सम्बन्ध रहेगा। हम यथाशक्ति कोई ऐसी बात न करेंगे, जिससे उसका अमङ्गल हो; लेकिन हिस्से की जो बात कहती हो, तो कुमुद का हिस्सा कुछ नहीं। दादा जीवित थे तब और बात थी। वह उसके विवाह में जितना चाहते ख़र्च करते। कोई उनका हाथ न पकड़ सकता था; लेकिन अब तो हमें एक-एक पैसे की किफ़ायत करनी पड़ेगी। जो काम एक हज़ार में हो जाय उसके लिए पाँच हज़ार ख़र्च करना कहाँ की बुद्धिमानी है।

उमानाथ ने सुधारा—पाँच हज़ार क्यों, दस हज़ार कहिये।

कामता ने भवें सिकोड़कर कहा—नहीं, मैं पाँच हज़ार ही कहूँगा। एक विवाह में पाँच हज़ार ख़र्च करने की हमारी हैसियत नहीं है।

फूलमती ने ज़िद पकड़कर कहा—विवाह तो मुरारीलाल के पुत्र से ही होगा, चाहे पाँच हज़ार ख़र्च हों, चाहे दस हज़ार। मेरे पति की कमाई है। मैंने मर-मरकर जोड़ा है। अपनी इच्छा से ख़र्च करूँगी। तुम्हीं ने मेरे कोख से नहीं जन्म लिया है। कुमुद भी उसी कोख से आई है। मेरी आँखों में तुम सब बराबर हो। मैं किसी से कुछ माँगती नहीं। तुम बैठे तमाशा देखो, मैं सब कुछ कर लूँगी। बीस हज़ार में पाँच हज़ार कुमुद का है।

कामतानाथ को अब कड़वे सत्य की शरण लेने के सिवा और कोई मार्ग न रहा। बोला—अम्माँ, तुम बरबस बात बढ़ाती हो। जिस रुपए को तुम अपना समझती हो, वह तुम्हारे नहीं हैं, हमारे हैं। तुम हमारी अनुमति के बिना उसमें से कुछ नहीं ख़र्च कर सकतीं।

फूलमती को जैसे सर्प ने डस लिया—क्या कहा? फिर तो कहना! मैं अपने ही सञ्चे रुपए अपनी इच्छा से नहीं ख़र्च कर सकती?

'वह रुपए तुम्हारे नहीं रहे, हमारे हो गये।'

'तुम्हारे होंगे; लेकिन मेरे मरने के पीछे।'

'नहीं, दादा के मरते ही हमारे हो गये।'

उमानाथ ने बेहयाई से कहा—अम्माँ क़ानून-क़ायदा तो जानतीं नहीं, नाहक़ उलझती हैं।

फूलमती क्रोध-विह्वल होकर बोली—भाड़ में जाय तुम्हारा क़ानून। मैं ऐसे क़ानून को नहीं मानती। तुम्हारे दादा ऐसे कोई बड़े धन्नासेठ न थे। मैंने ही पेट और तन काटकर यह गृहस्थी जोड़ी है, नहीं आज बैठने को छाँह न मिलती। मेरे जीते-जी तुम मेरे रुपए नहीं छू सकते। मैंने तुम तीन भाइयों के विवाह में दस-दस हज़ार खर्च किये हैं। वही मैं कुमुद के विवाह में भी खर्च करूँगी।

कामतानाथ भी गर्म पड़ा—आपको कुछ भी ख़र्च करने का अधिकार नहीं है।

उमानाथ ने बड़े भाई को डाँटा—आप ख़ामख़ाह अम्माँ के मुँह लगते हैं भाई साहब। मुरारीलाल को पत्र लिख दीजिये, कि तुम्हारे यहाँ कुमुद का विवाह न होगा। बस छुट्टी हुई। यह क़ायदा-क़ानून तो जानती नहीं, व्यर्थ की बहस करती हैं।

फूलमती ने संयमित स्वर में कहा—अच्छा, क्या कानून हैं, ज़रा मैं भी सुनूँ?

उमा ने निरीह भाव से कहा—क़ानून यही है कि बाप के मरने के बाद जायदाद बेटों की हो जाती है। मा का हक़ केवल रोटी-कपड़े का है।

फूलमती ने तड़पकर पूछा—किसने यह क़ानून बनाया है?

उमा शान्त-स्थिर स्वर में बोला—हमारे ऋषियों ने, महाराज मनु ने, और किसने?

फूलमती एक क्षण अवाक् रहकर आहत कण्ठ से बोली—तो इस घर में मैं तुम्हारे टुकड़ों पर पड़ी हुई हूँ?

उमानाथ ने न्यायाधीश की निर्ममता से कहा—तुम जैसा समझो।

फूलमती की सम्पूर्ण आत्मा मानो इस वज्राघात से चीत्कार करने लगी। उसके मुख से जलती हुई चिनगारियों की भाँति यह शब्द निकल पड़े—मैंने घर बनवाया, मैंने सम्पत्ति जोड़ी, मैंने तुम्हें जन्म दिया, पाला और आज मैं इस घर में ग़ैर हूँ। मनु का यही क़ानून है और तुम उसी क़ानून पर चलना चाहते हो। अच्छी बात है। अपना घर-द्वार लो। मुझे तुम्हारी आश्रिता बनकर रहना स्वीकार नहीं। इससे कहीं अच्छा है कि मर जाऊँ। वाह रे अन्धेर! मैंने पेड़ लगाया और मैं ही उसकी छाँह में खड़ी नहीं हो सकती; अगर यही क़ानून है, तो इसमें आग लग जाय।

चारों युवकों पर माता के इस क्रोध और आतङ्क का कोई असर न हुआ। क़ानून का फ़ौलादी कवच उनकी रक्षा कर रहा था। इन काँटों का उन पर क्या असर हो सकता था।

ज़रा देर में फूलमती उठकर चली गई। आज जीवन में पहली बार उसका वात्सल्य-मग्न मातृत्व अभिशाप बनकर उसे धिक्कारने लगा। जिस मातृत्व को उसने जीवन की विभूति समझा था, जिसके चरणों पर वह सदैव अपनी समस्त अभिलाषाओं और कामनाओं को अर्पित करके अपने को धन्य मानती थी, वही मातृत्व आज उसे उस अग्निकुंड-सा जान पड़ा, जिसमें उसका जीवन जलकर भस्म हो रहा था।

सन्ध्या हो गई थी। द्वार पर नीम का वृक्ष सिर झुकाये निस्तब्ध खड़ा था, मानो संसार की गति पर क्षुब्ध हो रहा हो। अस्ताचल की ओर प्रकाश और जीवन का देवता फूलमती के मातृत्व ही की भाँति अपनी चिता में जल रहा था।

(४)

फूलमती अपने कमरे में जाकर लेटी, तो उसे मालूम हुआ, उसकी कमर टूट गई है। पति के मरते ही अपने पेट के लड़के उसके शत्रु हो जायँगे, उसको स्वप्न में भी गुमान न था। जिन लड़कों को उसने अपना हृदय-रक्त पिला-पिलाकर पाला, वही आज उसके हृदय पर यों आघात कर रहे हैं! अब यह घर उसे काँटों की सेज हो रहा था जहाँ उसकी कुछ क़द्र नहीं, कुछ गिनती नहीं। वहाँ अनाथों की भाँति पड़ी रोटियाँ खाये, यह उसकी अभिमानी प्रकृति के लिए असह्य था।

पर उपाय ही क्या था। वह लड़कों से अलग होकर रहे भी तो नाक किसकी कटेगी। संसार उसे थूके तो क्या, और लड़कों को थूके तो क्या। बदनामी तो उसी की है। दुनिया यही तो कहेगी कि चार जवान बेटों के होते बुढ़िया अलग पड़ी हुई मजूरी करके पेट पाल रही है। जिन्हें उसने हमेशा नीच समझा, वही उस पर हँसेंगे। नहीं, वह

अपमान इस अनादर से कहीं ज़्यादा हृदय-विदारक था। अब अपना और घर का परदा ढँका रखने में ही कुशल है। हाँ, अब उसे अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ेगा। समय बदल गया है। अब तक स्वामिनी बनकर रही, अब लौंडी बनकर रहना पड़ेगा। ईश्वर की यही इच्छा है। अपने बेटों की बातें और लातें ग़ैरों की बातों और लातों की अपेक्षा फिर भी ग़नीमत हैं।

वह बड़ी देर तक मुँह ढाँपे अपनी दशा पर रोती रही। सारी रात इसी आत्म-वेदना में कट गई। शरद् का प्रभात डरता-डरता ऊषा की गोद से निकला, जैसे कोई क़ैदी छिपकर जेल से भाग आया हो। फूलमती अपने नियम के विरुद्ध आज तड़के ही उठी, रात-भर में उसका मानसिक परिवर्तन हो चुका था। सारा घर सो रहा था और वह आँगन में झाड़ू लगा रही थी। रात-भर ओस में भींगी हुई पक्की ज़मीन उसके नङ्गे पैरों में काँटों की तरह चुभ रही थी। पण्डितजी उसे कभी इतने सवेरे उठने न देते थे। शीत उसके लिए बहुत हानिकर थी; पर अब वह दिन नहीं रहे। प्रकृति को भी समय के साथ बदल देने का प्रयत्न कर रही थी। झाड़ू से फ़ुर्सत पाकर उसने आग जलाई और चावल-दाल की कङ्कड़ियाँ चुनने लगी। कुछ देर में लड़के जागे। बहुएँ उठीं। सभों ने बुढ़िया को सर्दी से सिकुड़े हुए काम करते देखा; पर किसी ने यह न कहा कि अम्माँ क्यों हलकान होती हो। शायद सब-के-सब बुढ़िया के इस मान-मर्दन पर प्रसन्न थे।

आज से फूलमती का यही नियम हो गया कि जी तोड़कर घर का काम करना, और अन्तरङ्ग नीति से अलग रहना। उसके मुख पर जो एक आत्म-गौरव झलकता रहता था, उसकी जगह अब गहरी वेदना छाई हुई नज़र आती थी। जहाँ बिजली जलती थी, वहाँ अब तेल का दिया टिमटिमा रहा था, जिसे बुझा देने के लिए हवा का एक हलका-सा झोंका काफ़ी है।

मुरारीलाल को इन्कारी-पत्र लिखने की बात पक्की हो ही चुकी थी। दूसरे दिन पत्र लिख दिया गया। दीनदयाल से कुमुद का विवाह निश्चित हो गया। दीनदयाल की उम्र चालीस से कुछ अधिक थी, मर्यादा में भी कुछ हेटे थे; पर रोटी-दाल से खुश थे। बिना किसी ठहराव के विवाह करने पर राज़ी हो गये। तिथि नियत हुई, बारात आई, विवाह हुआ और कुमुद बिदा कर दी गई। फूलमती के दिल पर क्या गुज़र रही थी, उसे कौन जान सकता है। कुमुद के दिल पर क्या गुज़र रही थी इसे भी कौन जान सकता है; पर चारो भाई बहुत प्रसन्न थे, मानो उनके हृदय का काँटा निकल गया हो। ऊँचे कुल की कन्या, मुँह कैसे खोलती। भाग्य में सुख भोगना होगा सुख भोगेगी, दुःख भोगना होगा दुःख झेलेगी। हरि-इच्छा बेकसों का अन्तिम अवलम्ब है। घरवालों ने जिससे विवाह कर दिया, उसमें हज़ार ऐब हों, तो भी वह उसका उपास्य, उसका स्वामी है। प्रतिरोध उसकी कल्पना से परे था।

फूलमती ने किसी काम में दख़ल न दिया। कुमुद को क्या दिया गया, मेहमानों का कैसा सत्कार किया गया, किसके यहाँ से नेवते में क्या आया, किसी बात से भी उसे सरोकार न था। उससे कोई सलाह भी ली गई तो यही कहा—बेटा, तुम लोग जो करते हो अच्छा ही करते हो, मुझसे क्या पूछते हो।

जब कुमुद के लिए द्वार पर डोली आ गई और कुमुद मा के गले लिपटकर रोने लगी, तो वह बेटी को अपनी कोठरी में ले गई और जो कुछ सौ-पचास रुपए और दो-चार मामूली गहने उसके पास बच रहे थे, बेटी के अञ्चल में डालकर बोली—बेटी, मेरी तो मन-की-मन में रह गई, नहीं क्या आज तुम्हारा विवाह इस तरह होता और तुम इस तरह बिदा की जातीं।

आज तक फूलमती ने अपने गहनों की बात किसी से न कही थी। लड़कों ने उसके साथ जो कपट-व्यवहार किया था, इसे चाहे वह अब

तक न समझी हो ; लेकिन इतना जानती थी कि गहने फिर न मिलेंगे और मनोमालिन्य बढ़ने के सिवा कुछ हाथ न लगेगा ; लेकिन इस अवसर पर उसे अपनी सफ़ाई देने की ज़रूरत मालूम हुई । कुमुद यह भाव मन में लेकर जाये कि अम्माँ ने अपने गहने बहुओं के लिए रख छोड़े, इसे वह किसी तरह न सह सकती थी ; इसीलिए वह उसे अपनी कोठरी में ले गई थी ; लेकिन कुमुद को पहले ही इस कौशल की टोह मिल चुकी थी ; उसने गहने और रुपए अञ्चल से निकालकर माता के चरणों पर रख दिये और बोली—अम्माँ, मेरे लिए तुम्हारा आशीर्वाद लाख रुपयों के बराबर है । तुम इन चीज़ों को अपने पास रखो । न जाने अभी तुम्हें किन विपत्तियों का सामना करना पड़े ।

फूलमती कुछ कहना ही चाहती थी कि उमानाथ ने आकर कहा—क्या कर रही है कुमुद ? चल जल्दी कर । साइत टली जाती है । वह लोग हाय-हाय कर रहे हैं ; फिर तो दो-चार महीने में आयेगी ही । जो कुछ लेना-देना हो ले लेना ।

फूलमती के घाव पर जैसे मनों नमक पड़ गया । बोली—मेरे पास अब क्या है भैया, जो मैं इसे दूँगी । जाव बेटी, भगवान तुम्हारा सोहाग अमर करें ।

कुमुद बिदा हो गई । फूलमती पछाड़ खाकर गिर पड़ी । जीवन की अन्तिम लालसा नष्ट हो गई ।

(६)

एक साल बीत गया ।

फूलमती का कमरा घर में सब कमरों से बड़ा और हवादार था । कई महीनों से उसने उसे बड़ी बहू के लिए खाली कर दिया था । और खुद एक छोटी-सी कोठरी में रहने लगी थी, जैसे कोई भिखारिन हो । बेटा और बहुओं से अब उसे ज़रा भी स्नेह न था । वह अब घर की लौंडी थी । घर के किसी प्राणी, किसी वस्तु, किसी प्रसङ्ग से उसे प्रयोजन न था । वह केवल इसलिए जीती थी कि मौत न आती थी । सुख या दुःख का अब

उसे लेश-मात्र भी ज्ञान न था। उमानाथ का औषधालय खुला, मित्रों की दावत हुई, नाच-तमाशा हुआ। दयानाथ का प्रेस खुला, फिर जलसा हुआ। सीतानाथ को वज़ीफ़ा मिला और वह विलायत गया। फिर उत्सव हुआ। कामतानाथ के बड़े लड़के का यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ, फिर धूमधाम हुई; लेकिन फूलमती के मुख पर आनन्द की छाया तक न आई। कामतानाथ टाइफ़ाइड में महीने भर बीमार रहा और मरकर उठा। दयानाथ ने अबकी अपने पत्र का प्रचार बढ़ाने के लिए वास्तव में एक आपत्तिजनक लेख लिखा और छः महीने की सज़ा पाई। उमानाथ ने एक फ़ौजदारी के मामिले में रिशवत लेकर ग़लत रिपोर्ट लिखी और उनकी सनद छीन ली गई; पर फूलमती के चेहरे पर रञ्ज की परछाईं तक न पड़ी। उसके जीवन में अब कोई आशा, कोई दिलचस्पी, कोई चिन्ता न थी। बस, पशुओं की तरह काम करना और खाना, यही उसकी ज़िन्दगी के दो काम थे। जानवर मारने से काम करता है; पर खाता है मन से। फूलमती बे कहे काम करती थी; पर खाती थी विष के कौर की तरह। महीनों सिर में तेल न पड़ता, महीनों कपड़े न धुलते, कुछ परवाह नहीं। वह चेतनाशून्य हो गई थी।

सावन की झड़ी लगी हुई थी। मलेरिया फैल रहा था। आकाश में मटियाले बादल थे। ज़मीन पर मटियाला पानी। आर्द्र वायु शीत-ज्वर और श्वास का वितरण करती फिरती थी। घर की महरी बीमार पड़ गई। फूलमती ने घर के सारे बर्तन माँजे, पानी में भीग-भीगकर सारा काम किया। फिर आग जलाई, और चूल्हे पर पतीलियाँ चढ़ा दीं। लड़कों को समय पर भोजन तो मिलना ही चाहिये।

सहसा उसे याद आया, कामतानाथ नल का पानी नहीं पीते। उसी वर्षा में गंगाजल लाने चली।

कामतानाथ ने पलङ्ग पर लेट-लेटे कहा—रहने दो अम्माँ, मैं पानी भर लाऊँगा, आज महरी खूब बैठ रही।

फूलमती ने मटियाले आकाश की ओर देखकर कहा—तुम भीग जावगे बेटा, सर्दी हो जायगी।

कामतानाथ बोले—तुम भी तो भीग रही हो। कहीं बीमार न पड़ जाव।

फूलमती निर्मम भाव से बोली—मैं बीमार न पड़ूँगी। मुझे भगवान ने अमर कर दिया है।

उमानाथ भी वहीं बैठा हुआ था। उसके औषधालय में कुछ आमदनी न होती थी; इसलिए बहुत चिंतित रहता था। भाई-भावज की मुँहदेखी करता रहता था। बोला—जाने भी दो भैया। बहुत दिनों बहुओं पर राज कर चुकी हैं। उसका प्रायश्चित्त तो करने दो।

गङ्गा बढ़ी हुई थी, जैसे समुद्र हो। क्षितिज सामने के कूल से मिला हुआ था। किनारे के वृक्षों की केवल फुनगियाँ पानी के ऊपर रह गई थीं। घाट ऊपर तक पानी में डूब गये थे। फूलमती कलसा लिये नीचे उतरी। पानी भरा और ऊपर जा रही थी कि पाँव फिसला। सँभल न सकी। पानी में गिर पड़ी। पल भर हाथ-पाँव चलाये, फिर लहरें उसे नीचे खींच ले गईं। किनारे पर दो-चार पण्डे चिल्लाये—'अरे दौड़ो, बुढ़िया डूबी जाती है।' दो-चार आदमी दौड़े भी; लेकिन फूलमती लहरों में समा गई थी, उन बल खाती हुई लहरों में जिन्हें देखकर ही हृदय काँप उठता था।

एक ने पूछा—यह कौन बुढ़िया थी?

'अरे वही पण्डित अयोध्यानाथ की विधवा है।'

'अयोध्यानाथ तो बड़े आदमी थे?'

'हाँ, थे तो; मर इसके भाग्य में ठोकरें खाना लिखा था।'

'उनके तो कई लड़के बड़े-बड़े हैं और सब कमाते हैं।'

'हाँ, सब हैं भाई; मगर भाग्य भी तो कोई वस्तु है।'

अंतिम शांति

स्वर्गीय देवनाथ मेरे अभिन्न मित्रों में थे। आज भी जब उनकी याद आ जाती है, तो वह रँगरेलियाँ आँखों में फिर जाती हैं, और कहीं एकान्त में जाकर ज़रा देर रो लेता हूँ। हमारे और उनके बीच में दो-ढाई सौ मील का अन्तर था। मैं लखनऊ में था, वह दिल्ली में; लेकिन ऐसा शायद ही कोई महीना जाता हो कि हम आपस में न मिल जाते हों। वह स्वच्छन्द प्रकृति के, विनोद-प्रिय, सहृदय, उदार और मित्रों पर प्राण देनेवाले आदमी थे जिन्होंने अपने और पराये में भी भेद नहीं किया। संसार क्या है और यहाँ लौकिक व्यवहार का कैसे निर्वाह होता है, यह उस व्यक्ति ने कभी न जाना और न जानने की चेष्टा की। उनके जीवन में ऐसे कई अवसर आये, जब उन्हें आगे के लिए होशियार हो जाना चाहिये था, मित्रों ने उनकी निष्कपटता से अनुचित लाभ उठाया, और कई बार उन्हें लज्जित भी होना पड़ा; लेकिन उस भले आदमी ने जीवन से कोई सबक़ लेने की क़सम खा ली थी। उनके व्यवहार ज्यों-के-त्यों रहे—'जैसे भोलानाथ जिये, वैसे ही भोलानाथ मरे।' जिस

दुनिया में वह रहते थे वह निराली दुनिया थी, जिसमें संदेह, चालाकी और कपट के लिए स्थान न था—सब अपने थे, कोई ग़ैर न था। मैंने बार-बार उन्हें सचेत करना चाहा ; पर इसका परिणाम आशा के विरुद्ध हुआ। जीवन के स्वप्नों को भंग करते उन्हें हार्दिक वेदना होती थी। मुझे कभी-कभी चिंता होती थी कि इन्होंने हाथ बन्द न किया, तो नतीजा क्या होगा। लेकिन विडम्बना यह थी कि उनकी स्त्री गोपा भी कुछ उसी साँचे में ढली हुई थी। हमारी देवियों में जो एक चातुरी होती है, जो सदैव ऐसे उड़ाऊ पुरुषों की असावधानियों पर 'ब्रेक' का काम करती है, उससे वह वंचित थीं। यहाँ तक कि वस्त्रा-भूषण में भी उसे विशेष रुचि न थी। अतएव, जब मुझे देवनाथ के स्वर्गारोहण का समाचार मिला, और मैं भागा हुआ दिल्ली गया, तो घर में बरतन-भाँड़े और मकान के सिवा और कोई संपत्ति न थी। और अभी उनकी उम्र ही क्या थी, जो संचय की चिंता करते। चालीस भी तो पूरे न हुए थे। यों तो लड़कपन उनके स्वभाव में ही था; लेकिन इस उम्र में प्रायः सभी लोग कुछ बेफिक्र रहते हैं। पहले एक लड़की हुई थी। इसके बाद दो लड़के हुए। दोनों लड़के तो बचपन में ही दग़ा दे गये थे। लड़की बच रही थी और यही इस नाटक का सबसे करुण दृश्य था। जिस तरह का इनका जीवन था, उसके देखते इस छोटे-से परिवार के लिए दो सौ रुपए महीने की ज़रूरत थी। दो-तीन साल में लड़की का विवाह भी करना होगा। कैसे क्या होगा, मेरी बुद्धि कुछ काम न करती थी।

इस अवसर पर मुझे यह बहुमूल्य अनुभव हुआ कि जो लोग सेवा-भाव रखते हैं और जो स्वार्थ-सिद्धि को जीवन का लक्ष्य नहीं बनाते, उनके परिवार को आड़ देनेवालों की कमी नहीं रहती। यह कोई नियम नहीं है ; क्योंकि मैंने ऐसे लोगों को भी देखा है, जिन्होंने जीवन में बहुतों के साथ सलूक किये पर उनके पीछे उनके बाल-बच्चों

की किसी ने बात तक न पूछी ; लेकिन चाहे कुछ हो, देवनाथ के मित्रों ने प्रशंसनीय औदार्य से काम लिया और गोपा के निर्वाह के लिए स्थायी धन जमा करने का प्रस्ताव किया। दो-एक सज्जन जो रँडुवे थे, उससे विवाह करने को तैयार थे ; किन्तु गोपा ने भी उसी स्वाभिमान का परिचय दिया, जो हमारी देवियों का जौहर है और इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। मकान बहुत बड़ा था। उसका एक भाग किराए पर उठा दिया। इस तरह उसको ५०) माहवार मिलने लगे। वह इतने में ही अपना निर्वाह कर लेगी। जो कुछ ख़र्च था, वह सुन्नी की ज़ात से था। गोपा के लिए तो जीवन में अब कोई अनुराग ही न था।

(२)

इसके एक ही महीने बाद मुझे कारोबार के सिलसिले में विदेश जाना पड़ा और वहाँ मेरे अनुमान से कहीं अधिक—दो साल—लग गये। गोपा के पत्र बराबर जाते रहते थे, जिससे मालूम होता था—वे आराम से हैं, कोई चिन्ता की बात नहीं है। मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि गोपा ने मुझे भी ग़ैर समझा और वास्तविक स्थिति छिपाती रही।

विदेश से लौटकर मैं सीधा दिल्ली पहुँचा। द्वार पर पहुँचते ही मुझे रोना आ गया। मृत्यु की प्रतिध्वनि-सी छाई हुई थी। जिस कमरे में मित्रों के जमघट रहते थे, उसके द्वार बन्द थे, मकड़ियों ने चारों ओर जाले तान रखे थे। देवनाथ के साथ वह श्री भी लुप्त हो गई थी। पहली नज़र में तो मुझे ऐसा भ्रम हुआ कि देवनाथ द्वार पर खड़े मेरी ओर देखकर मुस्करा रहे हैं। मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ और आत्मा की दैहिकता में मुझे सन्देह है ; लेकिन उस वक्त एक बार मैं चौंक ज़रूर पड़ा। हृदय में एक कम्पन-सा उठा ; लेकिन दूसरी नज़र में प्रतिमा मिट चुकी थी। द्वार खुला। गोपा के सिवा खोलनेवाला ही कौन था? मैंने उसे देखकर दिल थाम लिया। उसे मेरे आने की सूचना थी और मेरे स्वागत की प्रतीक्षा में उसने नई साड़ी पहन ली थी और शायद

बाल भी गुँथा लिये थे ; पर इन दो वर्षों में समय ने उस पर जो आघात किये थे, उन्हें क्या करती। नारियों के जीवन में यह वह अवस्था है, जब रूप-लावण्य अपने पूरे विकास पर होता है, जब उसमें अल्हड़पन, चंचलता और अभिमान की जगह आकर्षण, माधुर्य और रसिकता आ जाती है ; लेकिन गोपा का यौवन बीत चुका था। उसके मुख पर झुर्रियाँ और विषाद की रेखाएँ अंकित थीं, जिन्हें उसकी प्रयत्न-शील प्रसन्नता भी न मिटा सकती थी। केशों पर सफ़ेदी दौड़ चली थी और एक-एक अंग बूढ़ा हो रहा था।

मैंने करुण स्वर में पूछा—क्या तुम बीमार थीं, गोपा ?

गोपा ने आँसू पीकर कहा—नहीं तो, मुझे तो कभी सिर दर्द भी नहीं हुआ।

'तो तुम्हारी यह क्या दशा है ? बिलकुल बूढ़ी हो गई हो।'

'तो अब जवानी लेकर करना ही क्या है। मेरी उम्र भी तो पैंतीस के ऊपर हो गई।'

'पैंतीस की उम्र तो बहुत नहीं होती।'

'हाँ, उनके लिए, जो बहुत दिन जीना चाहते हैं। मैं तो चाहती हूँ, जितनी जल्द हो सके, जीवन का अंत हो जाय। बस सुन्नी के ब्याह की चिंता है। इससे छुट्टी पा जाऊँ ; फिर मुझे ज़िंदगी की परवाह न रहेगी।'

अब मालूम हुआ कि जो सज्जन इस मकान में किराएदार हुए थे, वह थोड़े दिनों के बाद तब्दील होकर चले गये और तब से कोई दूसरा किराएदार न आया। मेरे हृदय में बरछी-सी चुभ गई। इतने दिनों इन बेचारों का निर्वाह कैसे हुआ, यह कल्पना ही दुःखद थी।

मैंने विरक्त मन से कहा—लेकिन तुमने मुझे सूचना क्यों न दी ? क्या मैं बिलकुल ग़ैर हूँ ?

गोपा ने लज्जित होकर कहा—नहीं-नहीं, यह बात नहीं है। तुम्हें

ग़ैर समझूँगी, तो अपना किसे समझूँगी ? मैंने समझा, परदेस में तुम खुद अपने झमेले में पड़े होगे, तुम्हें क्यों सताऊँ ? किसी-न-किसी तरह दिन कट ही गये। घर में और कुछ न था, तो थोड़े-से गहने तो थे ही। अब सुनीता के विवाह की चिंता है। पहले, मैंने सोचा था, इस मकान को निकाल दूँगी, बीस-बाईस हज़ार मिल जायँगे। विवाह भी हो जायगा और कुछ मेरे लिए बच भी रहेगा ; लेकिन बाद को मालूम हुआ कि मकान पहले ही रेहन हो चुका है और सूद मिलाकर उस पर बीस हज़ार हो गये हैं। महाजन ने इतनी ही दया क्या कम की कि मुझे घर से निकाल न दिया। इधर से तो अब कोई आशा नहीं है। बहुत हाथ-पाँव जोड़ने पर, संभव है महाजन से दो-ढाई हज़ार और मिल जाँय। इतने में क्या होगा ? इसी फिक्र में घुली जा रही हूँ। लेकिन, मैं भी कितनी मतलबी हूँ, न तुम्हें हाथ-मुँह धोने को पानी दिया, न कुछ जलपान लाई और अपना दुखड़ा ले बैठी। अब आप कपड़े उतारिये और अराम से बैठिये। कुछ खाने को लाऊँ, खा लीजिये, तब बातें हों। घर पर तो सब कुशल है ?

मैंने कहा—मैं तो सीधा बम्बई से यहाँ आ रहा हूँ। घर कहाँ गया।

गोपा ने मुझे तिरस्कार-भरी आँखों से देखा ; पर उस तिरस्कार की आड़ में घनिष्ट आत्मीयता बैठी झाँक रही थी। मुझे ऐसा जान पड़ा, उसके मुख की झुर्रियाँ मिट गई हैं। पीछे मुख पर हलकी-सी लाली दौड़ गई। उसने कहा—इसका फल यह होगा कि तुम्हारी देवीजी तुम्हें कभी यहाँ न आने देंगी।

'मैं किसी का गुलाम नहीं हूँ।'

'किसी को अपना गुलाम बनाने के लिए पहले खुद भी उसका गुलाम बनना पड़ता है।'

शीतकाल की संध्या देखते-ही-देखते दीपक जलाने लगी। सुन्नी

लालटेन लेकर कमरे में आई। दो साल पहले की अबोध और कृशतनु बालिका रूपवती युवती हो गई थी, जिसकी हर एक चितवन, हर एक बात उसकी गौरवशील प्रकृति का पता दे रही थी। जिसे मैं गोद में उठाकर प्यार करता था, उसकी तरफ़ आज आँखें न उठा सका, और वह जो मेरे गले से लिपटकर प्रसन्न होती थी, आज मेरे सामने खड़ी भी न रह सकी। जैसे मुझ से कोई वस्तु छिपाना चाहती है, और जैसे मैं उसे उस वस्तु को छिपाने का अवसर दे रहा हूँ।

मैंने पूछा—अब तुम किस दरजे में पहुँचीं सुन्नी?

उसने सिर झुकाये हुए जवाब दिया—दसवें में हूँ।

'घर का भी कुछ काम-काज करती हो?'

'अम्माँ जब करने भी दें।'

गोपा बोली—मैं नहीं करने देती या तू खुद किसी काम के नगीच नहीं जाती?

सुन्नी मुँह फेरकर हँसती हुई चली गई। माँ की दुलारी लड़की थी। जिस दिन वह गृहस्थी का काम करती, उस दिन शायद गोपा रो-रोकर आँखें फोड़ लेती। वह खुद लड़की को कोई काम न करने देती थी; मगर सब से शिकायत करती थी कि वह कोई काम नहीं करती। यह शिकायत भी उसके प्यार का ही एक करिश्मा था। हमारी 'मर्याद' हमारे बाद भी जीवित रहती है।

मैं भोजन करके लेटा, तो गोपा ने फिर सुन्नी के विवाह की तैयारियों की चर्चा छेड़ दी। इसके सिवा उसके पास और बात ही क्या थी। लड़के तो बहुत मिलते हैं; लेकिन कुछ हैसियत भी तो हो। लड़की को यह सोचने का अवसर क्यों मिले कि दादा होते, तो शायद मेरे लिए इससे अच्छा घर-वर ढूँढ़ते। फिर गोपा ने डरते-डरते लाला मदारीलाल के लड़के का ज़िक्र किया।

मैंने चकित होकर उसकी ओर देखा। लाला मदारीलाल पहले

इंजीनियर थे। अब पेंशन पाते थे, लाखों रुपए जमा कर लिये थे; पर अब तक उनके लोभ की प्यास न बुझी थी। गोपा ने घर भी वह छाँटा, जहाँ उसकी रसाई कठिन थी।

मैंने आपत्ति की—मदारीलाल तो बड़ा ही दुर्जन मनुष्य है।

गोपा ने दाँतों-तले जीभ दबाकर कहा—अरे नहीं भैया, तुमने उन्हें पहचाना न होगा। मेरे ऊपर बड़े दयालु हैं। कभी-कभी आकर कुशल-समाचार पूछ जाते हैं। लड़का ऐसा होनहार है कि मैं तुम से क्या कहूँ। फिर उनके यहाँ कमी किस बात की है? यह ठीक है कि पहले वह खूब रिश्वत लेते थे; लेकिन यहाँ धर्मात्मा कौन है? कौन अवसर पाकर छोड़ देता है? मदारीलाल ने तो यहाँ तक कह दिया है कि वह मुझसे दहेज नहीं चाहते, केवल कन्या चाहते हैं। सुन्नी उनके मनमें बैठ गई है।

मुझे गोपा की सरलता पर दया आई; लेकिन मैंने सोचा, क्यों इसके मन में किसी के प्रति अविश्वास उत्पन्न करूँ। संभव है मदारीलाल वह न रहे हों। चित्त की भावनाएँ बदलती भी रहती हैं।

मैंने अर्ध-सहमत होकर कहा—मगर यह तो सोचो, उनमें और तुममें कितना अन्तर है। तुम शायद अपना सर्वस्व अर्पण करके भी उनका मुँह सीधा न कर सको।

लेकिन गोपा के मन में बात जम गई थी। सुन्नी को वह ऐसे घर में ब्याहना चाहती थी, जहाँ वह रानी बनकर रहे।

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं मदारीलाल के पास गया और उनसे मेरी जो बात-चीत हुई उसने मुझे मुग्ध कर लिया। किसी समय वह लोभी रहे होंगे, इस समय तो मैंने उन्हें बहुत ही सहृदय, उदार और विनयशील पाया। बोले—भाई साहब, मैं देवनाथजी से परिचित हूँ। आदमियों में रत्न थे। उनकी लड़की मेरे घर में आये, यह मेरा सौभाग्य है। आप उसकी माँ से कह दें, मदारीलाल उनसे किसी चीज़ की इच्छा

नहीं रखता। ईश्वर का दिया हुआ मेरे घर में सब कुछ है, मैं उन्हें ज़ेरबार नहीं करना चाहता।

मेरे दिल का बोझ उतर गया। हम सुनी-सुनाई बातों से दूसरों के सम्बन्ध में कैसी मिथ्या धारणा कर लिया करते हैं, इसका बड़ा शुभ अनुभव हुआ। मैंने आकर गोपा को बधाई दी। यह निश्चय हुआ, कि गर्मियों में विवाह कर दिया जाय।

(३)

ये चार महीने गोपा ने विवाह की तैयारियों में काटे। मैं महीने में एक बार अवश्य उससे मिल आता था; पर हर बार खिन्न होकर लौटता। गोपा ने अपनी कुल-मर्यादा का न जाने कितना महान आदर्श अपने सामने रख लिया था। पगली इस भ्रम में पड़ी हुई थी, कि उसका यह उत्साह नगर में अपनी यादगार छोड़ जायगा। यह न जानती थी कि यहाँ ऐसे तमाशे रोज़ होते हैं और आयेदिन भुला दिये जाते हैं। शायद वह संसार से यह श्रेय लेना चाहती थी कि इस गई-बीती दशा में भी, लुटा हुआ हाथी नौ लाख का है। पग-पग पर उसे देवनाथ की याद आती। वह होते तो यह काम यों न होता, यों होता, और तब वह रोती। मदारीलाल सज्जन हैं, यह सत्य है; लेकिन गोपा का अपनी कन्या के प्रति भी तो कुछ धर्म है। कौन उसके दस-पाँच लड़कियाँ बैठी हुई हैं। वह तो दिल खोलकर अरमान निकालेगी। सुन्नी के लिए उसने जितने गहने और जोड़े बनवाये थे, उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य होता था। जब देखो, कुछ-न-कुछ सी रही है, कभी सुनारों की दुकान पर बैठी हुई है, कभी मेहमानों के आदर-सत्कार का आयोजन कर रही है। मुहल्ले में ऐसा बिरला ही कोई सम्पन्न मनुष्य होगा, जिससे उसने कुछ कर्ज न लिया हो। वह इसे कर्ज़ समझती थी; पर देनेवाले दान समझकर देते थे। सारा मुहल्ला उसका सहायक था। सुन्नी अब मुहल्ले की लड़की थी। गोपा की इज़्ज़त सबकी इज़्ज़त है

और गोपा के लिए तो नींद और आराम हराम था । दर्द से सिर फटा जा रहा है, आधी रात हो गई है ; मगर वह बैठी कुछ-न-कुछ सी रही है, या 'इस कोठी का धान उस कोठी' कर रही है । कितनी वात्सल्य से भरी आकांक्षा थी कि जो देखनेवालों में श्रद्धा उत्पन्न कर देती थी ।

अकेली औरत और वह भी आधी जान की । क्या-क्या करे । जो काम दूसरों पर छोड़ देती है, उसी में कुछ-न-कुछ कसर रह जाती है ; पर उसकी हिम्मत है कि किसी तरह हार नहीं मानती ।

पिछली बार उसकी दशा देखकर मुझसे न रहा गया । बोला — गोपादेवी, अगर मरना ही चाहती हो, तो विवाह हो जाने के बाद मरो । मुझे भय है कि तुम उसके पहले ही न चल दो ।

गोपा का मुरझाया हुआ मुख प्रमुदित हो उठा । बोली—इसकी चिन्ता न करो भैया, विधवा की आयु बहुत लम्बी होती है । तुमने सुना नहीं, 'राँड़ मरे न खँडहर ढहे ।' लेकिन मेरी कामना यही है कि सुन्नी का ठिकाना लगाकर मैं भी चल दूँ । अब और जीकर क्या करूँगी, सोचो । क्या करूँ, अगर किसी तरह का विघ्न पड़ गया, तो किसकी बदनामी होगी । इन चार महीनों में मुश्किल से घण्टा भर सोती हूँगी । नींद ही नहीं आती ; पर मेरा चित्त प्रसन्न है । मैं मरूँ या जीऊँ, मुझे यह संतोष तो होगा कि सुन्नी के लिए उसका बाप जो कर सकता था, वह मैंने कर दिया । मदारीलाल ने अपनी सज्जनता दिखाई, तो मुझे भी तो अपनी नाक रखनी है ।

एक देवी ने आकर कहा—बहन, ज़रा चलकर देख लो, चाशनी ठीक हो गई है या नहीं । गोपा उसके साथ चाशनी की परीक्षा करने गई और एक क्षण के बाद आकर बोली—जी चाहता है सिर पीट लूँ । तुमसे ज़रा बातें करने लगी, उधर चाशनी इतनी कड़ी हो गई कि लड्डू दाँतों से लड़ेंगे । किससे क्या कहूँ ।

मैंने चिढ़कर कहा—तुम व्यर्थ का झंझट कर रही हो । क्यों नहीं

किसी हलवाई को बुलाकर मिठाइयों का ठीका दे देतीं ? फिर तुम्हारे यहाँ मेहमान ही कितने आवेंगे, जिनके लिए यह तूमार बाँध रही हो। दस-पाँच की मिठाई उनके लिए बहुत होगी।

गोपा ने व्यथित नेत्रों से मेरी ओर देखा। मेरी यह आलोचना उसे बुरी लगी। इन दिनों उसे बात-बात पर क्रोध आ जाता था। बोली—भैया, तुम यह बातें न समझोगे। तुम्हें न मा बनने का अवसर मिला, न पत्नी बनने का। सुन्नी के पिता का कितना नाम था, कितने आदमी उनके दम से जीते थे, क्या यह तुम नहीं जानते। यह पगड़ी मेरे ही सिर तो बँधी है। तुम्हें विश्वास न आवेगा, नास्तिक जो ठहरे; पर मैं तो उन्हें सदैव अपने अन्दर बैठा हुआ पाती हूँ। जो कुछ कर रहे हैं वह कर रहे हैं। मैं मन्दबुद्धि स्त्री भला अकेली क्या कर लेती? वही मेरे सहायक हैं, वही मेरे प्रकाश हैं। यह समझ लो कि यह देह मेरी है; पर इसके अन्दर जो आत्मा है, वह उनकी है। जो कुछ हो रहा है, उनके पुण्य आदेश से हो रहा है। तुम उनके मित्र हो। तुमने अपने सैकड़ों रुपए ख़र्च किये और इतना हैरान हो रहे हो। मैं तो उनकी सहगामिनी हूँ, लोक में भी, परलोक में भी।

मैं अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

(४)

जून में विवाह हो गया। गोपा ने बहुत कुछ दिया और अपनी हैसियत से बहुत ज़्यादा दिया; लेकिन फिर भी उसे संतोष न था। आज सुन्नी के पिता होते, तो न जाने क्या करते। बराबर रोती रही।

जाड़ों में मैं फिर दिल्ली गया। मैंने समझा था अब गोपा सुखी होगी। लड़की का घर और वर दोनों आदर्श हैं। गोपा को इसके सिवा और क्या चाहिये; लेकिन सुख उसके भाग्य में ही न था।

मैं अभी कपड़े भी न उतारने पाया था कि उसने अपना दुखड़ा शुरू कर दिया—भैया, घर-द्वार सब अच्छा है, सास-ससुर भी अच्छे

हैं; लेकिन जमाई निकम्मा निकला। सुन्नी बेचारी रो-रोकर दिन काट रही है। तुम उसे देखो, तो पहचान न सको। उसकी परछाईं मात्र रह गई है। अभी कई दिन हुए आई हुई थी, उसकी दशा देखकर छाती फटती थी। जैसे जीवन में अपना पथ खो बैठी हो। न तन-बदन की सुध है, न कपड़े-लत्ते की। मेरी सुन्नी की यह दुर्गति होगी, यह तो स्वप्न में भी न सोचा था। बिल्कुल गुम-सुम हो गई है। कितना पूछा—बेटी, तुझसे वह क्यों नहीं बोलता, किस बात पर नाराज़ है; लेकिन कुछ जवाब ही नहीं देती। बस आँखों से आँसू बहते रहते हैं। मेरी सुन्नी कुँए में गिर गई।

मैंने कहा—तुमने उसके घरवालों से पता नहीं लगाया?

'लगाया क्यों नहीं भैया, सब हाल मालूम हो गया। लौंडा चाहता है मैं चाहे जिस राह जाऊँ, सुन्नी मेरी पूजा करती रहे। सुन्नी भला इसे क्यों सहने लगी। उसे तो तुम जानते हो कितनी अभिमानिनी है। वह उन स्त्रियों में नहीं है, जो पति को देवता समझती हैं और उसका दुर्व्य-वहार सहती रहती हैं। उसने सदैव दुलार और प्यार पाया है। बाप भी उस पर जान देता था। मैं भी आँख की पुतली समझती थी। पति मिला छैला, जो आधी-आधी रात तक मारा-मारा फिरता है। दोनो में क्या बात हुई, यह कौन जान सकता है; लेकिन दोनो में कोई गाँठ पड़ गई है। न वह सुन्नी की परवाह करता है, न सुन्नी उसकी परवाह करती है; मगर वह तो अपने रंग में मस्त है, सुन्नी प्राण दिये देती है। उसके लिए सुन्नी की जगह मुन्नी है, सुन्नी के लिए उसकी उपेक्षा है—और रुदन है।'

मैंने कहा—लेकिन तुमने सुन्नी को समझाया नहीं? उस लौंडे का क्या बिगड़ेगा। इसकी तो ज़िन्दगी ख़राब हो जायगी।

गोपा की आँखों में आँसू भर आये। बोली—भैया, किस दिल से समझाऊँ। सुन्नी को देखकर तो मेरी छाती फटने लगती है। बस, यही

जी चाहता है कि इसे अपने कलेजे में रख लूँ, कि इसे कोई कड़ी आँख से देख भी न सके। सुन्नी फूहड़ होती, कटु-भाषिणी होती, आरामतलब होती, तो समझाती भी। क्या यह समझाऊँ कि तेरा पति गली-गली मुँह काला करता फिरे, फिर भी तू उसकी पूजा किया कर। मैं तो खुद यह अपमान न सह सकती। स्त्री-पुरुष में विवाह की पहली शर्त यह है कि दोनो सोलहों आने एक दूसरे के हो जायँ। ऐसे पुरुष तो कम हैं, जो स्त्री को जौ-भर भी विचलित होते देखकर शांत रह सकें; पर ऐसी स्त्रियाँ बहुत हैं, जो पति को स्वच्छन्द समझती हैं। सुन्नी उन स्त्रियों में नहीं है। वह अगर आत्म-समर्पण करती है, तो आत्म-समर्पण चाहती भी है, और यदि पति में यह बात न हुई, तो वह उससे कोई सम्पर्क न रखेगी, चाहे उसका सारा जीवन रोते कट जाय।

यह कहकर गोपा भीतर गई और एक सिंगारदान लाकर उसके अन्दर के आभूषण दिखाती हुई बोली—सुन्नी इसे अबकी यहीं छोड़ गई। इसीलिए आई ही थी। ये वे गहने हैं, जो मैंने न जाने कितने कष्ट सहकर बनवाये थे। इनके पीछे महीनों मारी-मारी फिरी थी। यों कहो कि भीख माँगकर जमा किये थे। सुन्नी अब इनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती। पहने तो किसके लिए? सिङ्गार करे, तो किस पर? पाँच सन्दूक कपड़ों के दिये थे। कपड़े सीते-सीते मेरी आँखें फूट गईं। वह सब कपड़े उठाती लाई। इन चीज़ों से जैसे उसे घृणा हो गई है। बस कलाई में दो काँच की चूड़ियाँ और एक उजली साड़ी, यही उसका सिङ्गार है।

मैंने गोपा को सांत्वना दी—मैं जाकर ज़रा केदारनाथ से मिलूँगा। देखूँ तो, वह किस रंग-ढंग का आदमी है।

गोपा ने हाथ जोड़कर कहा—नहीं भैया, भूलकर भी न जाना, सुन्नी सुनेगी तो प्राण ही दे देगी। अभिमान की पुतली ही समझो उसे। रस्सी समझ लो, जिसके जल जाने पर भी बल नहीं जाते। जिन

पैरों ने उसे ठुकरा दिया है, उन्हें वह कभी न सहलायेगी। उसे अपना बनाकर कोई चाहे तो लौंडी बना ले ; लेकिन शासन तो उसने मेरा न सहा, दूसरों का क्या सहेगी।

मैंने गोपा से तो उस वक्त कुछ न कहा ; लेकिन अवसर पाते ही लाला मदारीलाल से मिला। मैं रहस्य का पता लगाना चाहता था। संयोग से पिता और पुत्र, दोनों एक ही जगह मिल गये। मुझे देखते ही केदार ने इस तरह झुककर मेरे चरण छुये कि मैं उसकी शालीनता पर मुग्ध हो गया। तुरन्त भीतर गया और चाय, मुरब्बा और मिठाइयाँ लाया। इतना सौम्य, इतना सुशील, इतना विनम्र युवक मैंने न देखा था। यह भावना ही न हो सकती थी कि इसके भीतर और बाहर में कोई अन्तर हो सकता है। जब तक रहा, सिर झुकाये बैठा रहा। उच्छृ-ङ्खलता तो उसे छू भी नहीं गई थी।

जब केदार टेनिस खेलने चला गया, तो मैंने मदारीलाल से कहा, केदार बाबू तो बहुत ही सच्चरित्र जान पड़ते हैं, फिर स्त्री-पुरुष में इतना मनोमालिन्य क्यों हो गया है ?

मदारीलाल ने एक क्षण विचार करके कहा—इसका कारण इसके सिवा और क्या बताऊँ कि दोनों अपने मा-बाप के लाड़ले हैं, और प्यार लड़कों को अपने मन का बना देता है। मेरा सारा जीवन संघर्ष में कटा। अब जाकर ज़रा शान्ति मिली है। भोग-विलास का कभी अवसर ही न मिला। दिन भर परिश्रम करता था, संध्या को पड़कर सो रहता था। स्वास्थ्य भी अच्छा न था ; इसलिए बराबर यह चिंता सवार रहती थी कि कुछ संचय कर लूँ। ऐसा न हो कि मेरे पीछे बाल-बच्चे भीख माँगते फिरें। नतीजा यह हुआ कि इन महाशय को मुफ़्त का धन मिला। सनक सवार हो गई। शराब उड़ने लगी। फिर ड्रामा खेलने का शौक हुआ। धन की कमी थी ही नहीं, उस पर मा-बाप के अकेले बेटे। उनकी प्रसन्नता ही हमारे जीवन का स्वर्ग थी। पढ़ना-

लिखना तो दूर रहा, विलास की इच्छा बढ़ती गई। रंग और गहरा हुआ, अपने जीवन का ड्रामा खेलने लगे। मैंने यह रंग देखा तो मुझे चिंता हुई। सोचा ब्याह कर दूँ, ठीक हो जायगा ; गोपा देवी का पैग़ाम आया, तो मैंने तुरन्त स्वीकार कर लिया। मैं सुन्नी को देख चुका था। सोचा, ऐसी रूपवती पत्नी पाकर इसका मन स्थिर हो जायगा ; पर वह भी लाड़ली लड़की थी—हठीली, अबोध, आदर्शवादिनी। सहिष्णुता तो उसने सीखी ही न थी। समझौते का जीवन में क्या मूल्य है, इसकी उसे ख़बर ही नहीं। लोहा लोहे से लड़ गया। वह अभिमान से इसे परास्त करना चाहती है, यह उपेक्षा से। यही रहस्य है। और साहब, मैं तो बहू को ही अधिक दोषी समझता हूँ। लड़के तो प्रायः मनचले होते ही हैं। लड़कियाँ स्वभाव से ही सुशीला होती हैं और अपनी जिम्मेदारी समझती हैं। इनकी सेवा, त्याग और प्रेम ही उनका अस्त्र है, जिससे वे पुरुष पर विजय पाती हैं। बहू में ये गुण नहीं हैं। डोंगा कैसे पार होगा, ईश्वर ही जाने।

सहसा सुन्नी अन्दर से आ गई। बिलकुल अपने चित्र की रेखा-सी, मानो मनोहर संगीत की प्रतिध्वनि हो। कुन्दन तपकर भस्म हो गया था। मिटी हुई आशाओं का इससे अच्छा चित्र नहीं हो सकता। उलाहना देती हुई बोली—आप न जाने कब से बैठे हुए हैं, मुझे ख़बर तक नहीं, और शायद आप बाहर-ही-बाहर चले भी जाते।

मैंने आँसुओं के वेग को रोकते हुए कहा—नहीं सुन्नी, यह कैसे हो सकता था ; तुम्हारे पास आ ही रहा था कि तुम स्वयं आ गईं।

मदारीलाल कमरे के बाहर अपनी कार की सफ़ाई कराने लगे। शायद मुझे सुन्नी से बात-चीत करने का अवसर देना चाहते थे।

सुन्नी ने पूछा—अम्माँ तो अच्छी तरह हैं?

'हाँ अच्छी हैं। तुमने अपनी यह क्या गत बना रखी है?'

'मैं तो बहुत अच्छी तरह हूँ।'

'यह बात क्या है ? तुम लोगों में यह क्या अनबन है ? गोपा देवी प्राण दिये डालती हैं। तुम खुद मरने की तैयारी कर रही हो। कुछ तो विचार से काम लो।'

सुन्नी के माथे पर बल गड़ गये—आपने नाहक यह विषय छेड़ दिया चाचाजी ! मैंने तो यह सोचकर अपने मन को समझा लिया कि मैं अभागिन हूँ। बस इसका निवारण मेरे बूते से बाहर है। मैं उस जीवन से मृत्यु को कहीं अच्छा समझती हूँ, जहाँ अपनी क़द्र न हो। मैं व्रत के बदले में व्रत चाहती हूँ। जीवन का कोई दूसरा रूप मेरी समझ में नहीं आता। इस विषय में किसी तरह का समझौता करना मेरे लिए असम्भव है। नतीजे की मैं परवाह नहीं करती।

'लेकिन...'

'नहीं चाचाजी, इस विषय में अब कुछ न कहिये, नहीं तो मैं चली जाऊँगी।'

'आख़िर सोचो तो...'

'मैं सब सोच चुकी और तय कर चुकी। पशु को मनुष्य बनाना मेरी शक्ति के बाहर है।'

इसके बाद मेरे लिए अपना मुँह बन्द कर लेने के सिवा और क्या रह गया था ?

(५)

मई का महीना था। मैं मंसूरी गया हुआ था कि गोपा का तार पहुँचा— 'तुरन्त आओ, ज़रूरी काम है।' मैं घबरा तो गया; लेकिन इतना निश्चित था कि कोई दुर्घटना नहीं हुई है। दूसरे ही दिन दिल्ली जा पहुँचा। गोपा मेरे सामने आकर खड़ी हो गई, निस्पन्द, मूक, निष्प्राण, जैसे तपेदिक़ का रोगी हो।

मैंने पूछा—कुशल तो है, मैं तो घबरा उठा।

उसने बुझी हुई आँखों से देखा और बोली—सच ?

'सुन्नी तो कुशल से है ?'

'हाँ, अच्छी तरह है ।'

'और केदारनाथ ?'

'वह भी अच्छी तरह हैं ।'

'तो फिर माजरा क्या है ?'

'कुछ तो नहीं ।'

'तुमने तार दिया और कहती हो—कुछ तो नहीं ।'

'दिल घबरा रहा था, इससे तुम्हें बुला लिया । सुन्नी को किसी तरह समझाकर यहाँ लाना है । मैं तो सब कुछ करके हार गई ।'

'क्या इधर कोई नई बात हो गई ?'

'नई तो नहीं है ; लेकिन एक तरह से नई ही समझो । केदार एक ऐक्ट्रेस के साथ कहीं भाग गया । एक सप्ताह से उसका कहीं पता नहीं है । सुन्नी से कह गया है—जब तक तुम रहोगी, घर न आऊँगा । सारा घर सुन्नी का शत्रु हो रहा है ; लेकिन वह वहाँ से टलने का नाम नहीं लेती । सुना है, केदार अपने बाप के दस्तख़त बनाकर कई हज़ार रुपए बैंक से ले गया है ।'

'तुम सुन्नी से मिली थीं ?'

'हाँ; तीन दिन से बराबर जा रही हूँ ।'

'वह नहीं आना चाहती, तो रहने क्यों नहीं देतीं ?'

'वहाँ वह घुट-घुटकर मर जायगी ।'

मैं उन्हीं पैरों लाला मदारीलाल के घर चला । हालाँकि मैं जानता था कि सुन्नी किसी तरह न आयगी ; मगर वहाँ पहुँचा, तो देखा कुहराम मचा हुआ है । मेरा कलेजा धक्-से रह गया । वहाँ तो अर्थी सज रही थी । मुहल्ले के सैकड़ों आदमी जमा थे । घर में से 'हाय ! हाय !' की क्रन्दन-ध्वनि आ रही थी । यह सुन्नी का शव था ।

मदारीलाल मुझे देखते ही मुझसे उन्मत्त की भाँति लिपट गये

और बोले—भाई साहब, मैं तो लुट गया। लड़का भी गया, बहू भी गई, ज़िंदगी ही ग़ारत हो गई।

मालूम हुआ कि जब से केदार ग़ायब हो गया था सुन्नी और भी ज़्यादा उदास रहने लगी थी। उसने उसी दिन अपनी चूड़ियाँ तोड़ डाली थीं और माँग का सिंदूर पोंछ डाला था। सास ने जब आपत्ति की, तो उनको अपशब्द कहे। मदारीलाल ने समझाना चाहा, तो उन्हें भी जली-कटी सुनाई। ऐसा अनुमान होता था, उन्माद हो गया है। लोगों ने उससे बोलना छोड़ दिया था। आज प्रातःकाल जमुना-स्नान करने गई। अँधेरा था, सारा घर सो रहा था। किसी को नहीं जगाया। जब दिन चढ़ गया और बहू घर में न मिली, तो उसकी तलाश होने लगी। दोपहर को पता लगा कि जमुना गई है। लोग उधर भागे। वहाँ उसकी लाश मिली। पुलिस आई, शव की परीक्षा हुई। अब जाकर शव मिला है। मैं कलेजा थामकर बैठ गया। हाय, अभी थोड़े दिन पहले जो सुंदरी पालकी पर सवार होकर आई थी, आज वह चार के कंधे पर जा रही है।

मैं अर्थी के साथ हो लिया और वहाँ से लौटा तो रात के दस बज गये थे। मेरे पाँव काँप रहे थे। मालूम नहीं, यह ख़बर पाकर गोपा की क्या दशा होगी। प्राणांत न हो जाय, मुझे यही भय हो रहा था। सुन्नी उसका प्राण थी, उसके जीवन का केंद्र थी। उस दुखिया के उद्यान में यही एक पौधा बच रहा था। उसे वह हृदय-रक्त से सींच-सींचकर पाल रही थी। उसके वसन्त का सुनहरा स्वप्न ही उसका जीवन था—उसमें कोपलें निकलेंगी, फूल खिलेंगे, फल लगेंगे, चिड़ियाँ उसकी डालियों पर बैठकर अपने सुहाने राग गायेंगी; किन्तु आज निष्ठुर नियति ने उस जीवन-सूत्र को उखाड़कर फेंक दिया। और अब उसके जीवन का कोई आधार न था। वह बिंदु ही मिट गया था, जिस पर जीवन की सारी रेखाएँ आकर एकत्र हो जाती थीं।

दिल को दोनो हाथों से थामे, मैंने ज़ंजीर खटखटाई। गोपा एक लालटेन लिये निकली। मैंने गोपा के मुख पर एक नये आनन्द की झलक देखी।

मेरी शोक-मुद्रा देखकर उसने मातृवत्-प्रेम से मेरा हाथ पकड़ लिया और बोली— आज तो तुम्हें सारे दिन रोते ही कटा। अर्थी के साथ बहुत से आदमी रहे होंगे। मेरे जी में भी आया कि चलकर सुन्नी का अन्तिम दर्शन कर लूँ। लेकिन मैंने सोचा जब सुन्नी ही न रही, तो उसकी लाश में क्या रखा है। न गई।

मैं विस्मय से गोपा का मुँह देखने लगा। तो इसे यह शोक समाचार मिल चुका है। फिर भी यह शांति! और यह अविचल धैर्य! बोला—अच्छा किया न गईं, रोना ही तो था।

'हाँ और क्या। रोई तो यहाँ भी; लेकिन तुमसे सच कहती हूँ दिल से नहीं रोई। न जाने कैसे आँसू निकल आये। मुझे तो सुन्नी की मौत से प्रसन्नता हुई। दुखिया अपनी 'मान मर्याद' लिये संसार से बिदा हो गई, नहीं तो न जाने क्या-क्या देखना पड़ता; इसलिए और भी प्रसन्न हूँ कि उसने अपनी आन निभा दी। स्त्री को जीवन में प्यार न मिले, तो उसका अन्त हो जाना ही अच्छा। तुमने सुन्नी की मुद्रा देखी थी? लोग कहते हैं, ऐसा जान पड़ता था मुस्करा रही है। मेरी सुन्नी सचमुच देवी थी। भैया, आदमी इसलिए थोड़े ही जीना चाहता है कि रोता रहे। जब मालूम हो गया कि जीवन में दुःख के सिवा और कुछ नहीं है, तो आदमी जीकर क्या करे? किस लिए जिये? खाने और सोने, और मर जाने के लिए? यह मैं नहीं कहती कि मुझे सुन्नी की याद न आयगी और मैं उसे याद करके रोऊँगी नहीं; लेकिन वह शोक के आँसू न होंगे, हर्ष से आँसू होंगे। बहादुर बेटे की माँ उसकी वीरगति पर प्रसन्न होती है। सुन्नी की मौत में क्या कुछ कम गौरव है? मैं आँसू बहाकर उस गौरव का अनादर कैसे करूँ? वह जानती है,

और चाहे सारा संसार उसकी निन्दा करे, उसकी माता उसकी सराहना ही करेगी। उसकी आत्मा से यह आनन्द भी छीन लूँ? लेकिन अब रात ज्यादा हो गई है। ऊपर जाकर सो रहो। मैंने तुम्हारी चारपाई बिछा दी है; मगर देखो, अकेले पड़े-पड़े रोना नहीं, सुन्नी ने वही किया जो उसे करना चाहिये था। उसके पिता होते तो आज सुन्नी की प्रतिमा बनाकर पूजते।'

मैं ऊपर जाकर लेटा, तो मेरे दिल का बोझ बहुत हल्का हो गया था; किन्तु रह-रहकर यह संदेह हो जाता था हि गोपा की यह शांति उसकी अपार व्यथा का ही रूप तो नहीं है?

स्वामिनी

शिवदास ने भंडारे की कुंजी अपनी बहू रामप्यारी के सामने फेक-कर, अपनी बूढ़ी आँखों में आँसू भरकर कहा—बहू, आज से गिरस्ती की देख-भाल तुम्हारे ऊपर है। मेरा सुख भगवान से नहीं देखा गया, नहीं तो क्या जवान बेटे को यों छीन लेते! उसका काम करनेवाला तो कोई चाहिये। एक हल तोड़ दूँ तो गुजारा न होगा। मेरे ही कुकरम से भगवान का यह कोप आया है, और मैं ही अपने माथे पर उसे लूँगा। बिरजू का हल अब मैं ही सँभालूँगा। अब घर की देख-रेख करनेवाला, धरने उठानेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कौन है? रोओ मत बेटा, भगवान की जो इच्छा थी, वह हुआ; और जो इच्छा होगी, वह होगा। हमारा तुम्हारा क्या बस है। मेरे जीते-जी तुम्हें कोई टेढ़ी आँख से देख भी न सकेगा। तुम किसी बात का सोच मत करो। बिरजू गया, तो मैं तो अभी बैठा ही हुआ हूँ।

रामप्यारी और रामदुलारी दो सगी बहनें थीं। दोनो का विवाह—मथुरा और बिरजू—दो सगे भाइयों से हुआ। दोनों बहनें नैहर की

तरह ससुराल में भी प्रेम और आनन्द से रहने लगीं। शिवदास को पेंशन मिली। दिन-भर द्वार पर बैठे गपशप करते। भरा-पूरा परिवार देख-देखकर प्रसन्न होते और अधिकतर धर्म-चर्चा में लगे रहते थे; लेकिन दैवगति से बड़ा लड़का बिरजू बीमार पड़ा और आज उसे मरे हुए पन्द्रह दिन बीत गये। आज क्रिया-कर्म से फुरसत मिली और शिवदास ने सच्चे कर्मवीर की भाँति फिर जीवन-संग्राम के लिए कमर कस ली। मन में उसे चाहे कितना ही दुःख हुआ हो, उसे किसी ने रोते नहीं देखा। आज अपनी बहू को देखकर एक क्षण के लिए उसकी आँखें सजल हो गईं; लेकिन उसने मन को सँभाला और रुद्धकण्ठ से उसे दिलासा देने लगा। कदाचित् उसने सोचा था, घर की स्वामिनी बनकर विधवा के आँसू पुछ जायँगे, कम-से-कम उसे इतना कठिन परिश्रम न करना पड़ेगा; इसीलिए उसने भंडारे की कुञ्जी बहू के सामने फेंकी थी। वैधव्य की व्यथा को स्वामित्व के गर्व से दबा देना चाहता था।

रामप्यारी ने पुलकित कण्ठ से कहा—यह कैसे हो सकता है दादा कि तुम मेहनत-मजूरी करो और मैं मालकिन बनकर बैठूँ। काम-धन्धे में लगी रहूँगी, तो मन बहलता रहेगा, बैठे-बैठे तो रोने के सिवा और कुछ न होगा।

शिवदास ने समझाया—बेटा, दैवगति से तो किसी का बस नहीं, रोने-धोने से हलकानी के सिवा और क्या हाथ आवेगा? घर में भी तो बीसों काम हैं। कोई साधु-सन्त आ जायँ, कोई पाहुना ही आ पहुँचे, उनके सेवा-सत्कार के लिए किसी को तो घर पर रहना ही पड़ेगा।

बहू ने बहुत से हीले किये; पर शिवदास ने एक न सुनी।

(२)

शिवदास के बाहर चले जाने पर रामप्यारी ने कुंजी उठाई, तो उसे मन में अपूर्व गौरव और उत्तरदायित्व का अनुभव हुआ। ज़रा देर

के लिए पति-वियोग का दुःख उसे भूल गया। उसकी छोटी बहन और देवर दोनो काम करने गये हुए थे। शिवदास बाहर था। घर बिल्कुल खाली था। इस वक्त वह निश्चिन्त होकर भण्डारे को खोल सकती है। उसमें क्या-क्या सामान है, क्या-क्या विभूति है यह देखने के लिए उसका मन लालायित हो उठा। इस घर में वह कभी न आई थी। जब कभी किसी को कुछ देना या किसी से कुछ लेना होता था, तभी शिवदास आकर इस कोठरी को खोला करता था। फिर उसे बन्द कर वह ताली अपनी कमर में रख लेता था। रामप्यारी कभी-कभी द्वार की दराजों से भीतर झाँकती थी ; पर अँधेरे में कुछ न दिखाई देता था। सारे घर के लिए वह कोठरी कोई तिलिस्म या रहस्य था जिसके विषय में भाँति-भाँति की कल्पनाएँ होती रहती थीं। आज रामप्यारी को वह रहस्य खोलकर देखने का अवसर मिल गया। उसने बाहर का द्वार बन्द कर दिया कि कोई उसे भंडारा खोलते न देख ले, नहीं सोचेगा बेज़रूरत इसने क्यों खोला। तब आकर काँपते हुए हाथों से ताला खोला। उसकी छाती धड़क रही थी कि कोई द्वार न खटखटाने लगे। अन्दर पाँव रखा तो उसे कुछ उसी प्रकार का, लेकिन उससे कहीं तीव्र आनन्द हुआ जो उसे अपने गहने-कपड़े की पिटारी खोलने में होता था। मटकों में गुड़, शक्कर, गेहूँ, जौ आदि चीज़ें रखी हुई थीं। एक किनारे बड़े-बड़े बर्तन धरे थे, जो शादी-ब्याह के अवसर पर निकाले जाते थे, या माँगे दिये जाते थे। एक आले पर मालगुज़ारी की रसीदें और लेन-देन के पुरजे बँधे हुए रखे थे। कोठरी में एक विभूति-सी छाई थी, मानो लक्ष्मी अज्ञात रूप से वहाँ विराज रही हों। उस विभूति की छाया में प्यारी आध घण्टे तक बैठी अपनी आत्मा को तृप्त करती रही। प्रतिक्षण उसके हृदय पर ममत्व का नशा-सा छाया जा रहा था। जब वह उस कोठरी से निकली, तो उसके मन के संस्कार बदल गये थे, मानो किसी ने उस पर मंत्र डाल दिया हो।

उसी समय द्वार पर किसी ने आवाज़ दी। उसने तुरन्त भंडारे का द्वार बन्द किया और जाकर सदर दरवाज़ा खोल दिया। देखा तो पड़ोसिन झुनिया खड़ी है और एक रुपया उधार माँग रही है।

रामप्यारी ने रुखाई से कहा—अभी तो एक पैसा भी घर में नहीं है जीजी, क्रिया-कर्म में सब खरच हो गया।

झुनिया चकरा गई। चौधरी के घर में इस समय एक रुपया भी नहीं है, यह विश्वास करने की बात न थी। जिसके यहाँ सैकड़ों का लेन-देन है, वह सब कुछ क्रिया-कर्म में नहीं खर्च कर सकता। अगर शिवदास ने यह बहाना किया होता, तो उसे आश्चर्य न होता। प्यारी तो अपने सरल स्वभाव के लिए गाँव में मशहूर थी। अकसर शिवदास की आँखें बचा कर पड़ोसियों की इच्छित वस्तुएँ दे दिया करती थी। अभी कल ही उसने जानकी को सेर-भर दूध दे दिया था। यहाँ तक कि अपने गहने तक माँगे दे देती थी। कृपण शिवदास के घर में ऐसी सखरज बहू का आना गाँववाले अपने सौभाग्य की बात समझते थे।

झुनिया ने चकित होकर कहा—ऐसा न कहो जीजी, बड़े गाढ़े में पड़कर आई हूँ, नहीं तुम जानती हो, मेरी आदत ऐसी नहीं है। बाक़ी का एक रुपया देना है। प्यादा द्वार पर खड़ा बक-झक रहा है। रुपया दे दो, तो किसी तरह यह विपत्ति टले। मैं आज के आठवें दिन आकर दे जाऊँगी। गाँव में और कौन घर है, जहाँ माँगने जाऊँ?

प्यारी टस से मस न हुई।

उसके जाते ही प्यारी साँझ के लिए रसोई-पानी का इन्तज़ाम करने लगी। पहले चावल-दाल बिनना अपाढ़ लगता था और रसोई में जाना तो सूली पर चढ़ने से कम न था। कुछ देर दोनो बहनों में झाँव-झाँव होती, तब शिवदास आकर कहते, क्या आज रसोई न बनेगी, तो दो में से एक उठती और मोटे-मोटे टिक्कड़ लगाकर रख

देती, मानो बैलों का रातिब हो। आज प्यारी तन-मन से रसोई के प्रबन्ध में लगी हुई है। अब वह घर की स्वामिनी है।

तब उसने बाहर निकलकर देखा, कितना कूड़ा-करकट पड़ा हुआ है। बुढ़ऊ दिन-भर मक्खी मारा करते हैं, इतना भी नहीं होता कि ज़रा झाड़ू ही लगा दें। अब क्या इनसे इतना भी न होगा? द्वार ऐसा चिकना चाहिये कि देखकर आदमी का मन प्रसन्न हो जाय। यह नहीं कि उबकाई आने लगे। अभी कह दूँ, तो तिनक उठेंगे। अच्छा, यह मुन्नी नाँद से अलग क्यों खड़ी है?

उसने मुन्नी के पास जाकर नाँद में झाँका। दुर्गन्ध आ रही थी। ठीक! मालूम होता है, महीनों से पानी ही नहीं बदला गया। इस तरह तो गाय रह चुकी। अपना पेट भर लिया, छुट्टी हुई, और किसी से क्या मतलब। हाँ, दूध सबको अच्छा लगता है। दादा द्वार पर बैठे चिलम पी रहे हैं; मगर इतना नहीं होता कि चार घड़ा पानी नाँद में डाल दें। मजूर रखा है, वह भी तीन कौड़ी का। खाने को डेढ़ सेर, काम करते नानी मरती है। आज आते हैं तो पूछती हूँ, नाँद में पानी क्यों नहीं बदला। रहना हो रहे या जाय। आदमी बहुत मिलेंगे। चारों ओर तो लोग मारे-मारे फिर रहे हैं।

आख़िर उससे न रहा गया। घड़ा उठाकर पानी लाने चली।

शिवदास ने पुकारा—पानी क्या होगा, बहू? इसमें पानी भरा हुआ है।

प्यारी ने कहा—नाँद का पानी सड़ गया है। मुन्नी भूसे में मुँह नहीं डालती। देखते नहीं हो, कोस-भर पर खड़ी है।

शिवदास मार्मिक भाव से मुसकराये और आकर बहू के हाथ से घड़ा ले लिया।

(३)

कई महीने बीत गये। प्यारी के अधिकार में आते ही उस घर में

जैसे वसन्त आ गया। भीतर-बाहर जहाँ देखिये, किसी निपुण प्रबन्धक के हस्तकौशल, सुविचार और सुरुचि के चिह्न दीखते थे। प्यारी ने गृह-यंत्र की ऐसी चाभी कस दी थी कि सभी पुरजे ठीक-ठीक चलने लगे थे। भोजन पहले से अच्छा मिलता है और समय पर मिलता है। दूध ज़्यादा होता है, घी ज़्यादा होता है, और काम ज़्यादा होता है। प्यारी न खुद विश्राम लेती है, न दूसरों को विश्राम लेने देती है। घर में कुछ ऐसी बरकत आ गई है कि जो चीज़ माँगो, घर ही में निकल आती है। आदमी से लेकर जानवर तक सभी स्वस्थ दिखाई देते हैं। अब वह पहले की-सी दशा नहीं है कि कोई चीथड़े लपेटे घूम रहा है, किसी को गहने की धुन सवार है। हाँ, अगर कोई रुग्ण और चिन्तित तथा मलिन वेष में है, तो वह प्यारी है; फिर भी सारा घर उससे जलता है। यहाँ तक कि बूढ़े शिवदास भी कभी-कभी उसकी बदगोई करते हैं। किसी को पहर रात रहे उठना अच्छा नहीं लगता। मेहनत से सभी जी चुराते हैं। फिर भी यह सब मानते हैं कि प्यारी न हो तो घर का काम न चले। और तो और, दोनो बहनों में भी अब उतना अपनापन नहीं है।

प्रातःकाल का समय था। दुलारी ने हाथों के कड़े लाकर प्यारी के सामने पटक दिये और भुन्नाई हुई बोली—लेकर इन्हे भी भंडारे में बन्द कर दे!

प्यारी ने कड़े उठा लिये और कोमल स्वर में कहा—कह तो दिया, हाथ में रुपए आने दे, बनवा दूँगी। अभी तो ऐसा घिस नहीं गया है कि आज ही उतारकर फेंक दिया जाय।

दुलारी लड़ने को तैयार होकर आई थी। बोली—तेरे हाथ में काहे को कभी रुपए आयेंगे और काहे को कड़े बनेंगे। जोड़-जोड़ रखने में मजा आता है न।

प्यारी ने हँसकर कहा—जोड़-जोड़ रखती हूँ, तो तेरे ही लिए कि

मेरे कोई और बैठा हुआ है, कि मैं सबसे ज़्यादा खा-पहन लेती हूँ। मेरा अनन्त कबका टूटा पड़ा है।

दुलारी—तुम न खाओ-पहनो, जस तो पाती हो। यहाँ खाने-पहनने के सिवा और क्या है। मैं तुम्हारा हिसाब-किताब नहीं जानती, मेरे कड़े आज बनने को भेज दो।

प्यारी ने सरल विनोद के भाव से पूछा—रुपए न हों, तो कहाँ से लाऊँ।

दुलारी ने उद्दण्डता के साथ कहा—मुझे इससे कोई मतलब नहीं। मैं तो कड़े चाहती हूँ।

इसी तरह घर के सब आदमी अपने-अपने अवसर पर प्यारी को दो-चार खोटी-खरी सुना जाते थे। और वह ग़रीब सब की धौंस हँसकर सहती थी। स्वामिनी का तो यह धर्म ही है कि सबकी धौंस सुन ले और करे वही, जिसमें घर का कल्याण हो। स्वामित्व के कवच पर धौंस, ताने, धमकी—किसी का असर न होता। उसकी स्वामिनी-कल्पना इन आघातों से और भी स्वस्थ होती थी। वह गृहस्थी की संचालिका है। सभी अपने-अपने दुःख उसी के सामने रोते हैं; पर जो कुछ वह करती है, वही होता है। इतना उसे प्रसन्न करने के लिए काफ़ी था।

गाँव में प्यारी की सराहना होती थी। अभी उम्र ही क्या है; लेकिन सारे घर को सँभाले हुई है। चाहती तो सगाई करके चैन से रहती। इस घर के पीछे अपने को मिटाये देती है। कभी किसी से हँसती-बोलती भी नहीं। जैसे काया-पलट हो गई।

कई दिन बाद दुलारी के कड़े बनकर आ गये। प्यारी खुद सुनार के घर दौड़-दौड़ गई।

सन्ध्या हो गई थी। दुलारी और मथुरा हार से लौटे। प्यारी ने नये कड़े दुलारी को दिये। दुलारी निहाल हो गई। चटपट कड़े पहने और दौड़ी हुई बरौठे में जाकर मथुरा को दिखाने लगी। प्यारी बरौठे

के द्वार पर छिपी खड़ी यह दृश्य देखने लगी। उसकी आँखें सजल हो गईं। दुलारी उससे कुल तीन ही साल तो छोटी है। पर दोनो में कितना अन्तर है। उसकी आँखें मानों उस दृश्य पर जम गईं, दम्पति का वह सरल आनन्द, उनका प्रेमालिंगन, उनकी मुग्ध मुद्रा—प्यारी की टकटकी-सी बँध गई, यहाँ तक कि दीपक के धुँधले प्रकाश में वे दोनो उसकी नज़रों से ग़ायब हो गये और अपने ही अतीत जीवन की एक लीला आँखों के सामने बार-बार नये-नये रूप में आने लगी।

सहसा शिवदास ने पुकारा—बड़ी बहू, एक पैसा दो, तमाखू मँगवाऊँ।

प्यारी की समाधि टूट गई। आँसू पोंछती हुई भंडारे में पैसा लेने चली गई।

(४)

एक-एक करके प्यारी के गहने उसके हाथ से निकलते जाते थे। वह चाहती थी मेरा घर गाँव में सबसे सम्पन्न समझा जावे, और इस महत्वाकांक्षा का मूल्य देना पड़ता था। कभी घर की मरम्मत के लिए, कभी बैलों की नई गोंई खरीदने के लिए, कभी नातेदारों के व्यवहारों के लिए, कभी बीमारों की दवादारू के लिए रुपए की ज़रूरत पड़ती रहती थी, और जब बहुत कतर-ब्योंत करने पर भी काम न चलता, तो वह अपनी कोई-न-कोई चीज़ निकाल देती। और चीज़ एक बार हाथ से निकलकर फिर न लौटती थी। वह चाहती तो इनमें से कितने ही ख़र्चों को टाल जाती; पर जहाँ इज़्ज़त की बात आ पड़ती थी, वह दिल खोलकर ख़र्च करती। अगर गाँव में हेठी हो गई, तो क्या बात रही। लोग उसी का नाम तो धरेंगे। दुलारी के पास भी गहने थे। दो एक चीज़ें मथुरा के पास भी थीं; लेकिन प्यारी उनकी चीज़ें न छूती। उनके खाने-पहनने के दिन हैं, वे इस जंजाल में क्यों फँसें।

दुलारी के लड़का हुआ, तो प्यारी ने धूम से जन्मोत्सव मनाने का प्रस्ताव किया।

शिवदास ने विरोध किया—क्या फायदा। जब भगवान् की दया से सगाई-ब्याह के दिन आवेंगे, तो धूम-धाम कर लेना।

प्यारी का हौसलों से भरा दिल भला क्यों मानता। बोली—कैसी बात कहते हो दादा। पहलौंठी लड़के के लिए भी धूम-धाम न हुआ तो कब होगा। मन तो नहीं मानता। फिर दुनिया क्या कहेगी। नाम बड़े दर्सन थोड़े। मैं तुमसे कुछ नहीं माँगती। अपना सारा सरंजाम कर लूँगी।

'गहनों के माथे जायगी, और क्या !'—शिवदास ने चिंतित होकर कहा—इस तरह एक दिन धागा भी न बचेगा। कितना समझाया, बेटा, भाई-भौजाई किसी के नहीं होते। अपने पास दो चीज़ें रहेंगी, तो सब मुँह जोहेंगे, नहीं कोई सीधे बात भी न करेगा।

प्यारी ने ऐसा मुँह बनाया, मानो वह ऐसी बूढ़ी बातें बहुत सुन चुकी है, और बोली—जो अपने हैं, वे बात भी न पूछें, तो भी अपने ही रहते हैं। मेरा धरम मेरे साथ है, उनका धरम उनके साथ है। मर जाऊँगी तो क्या छाती पर लाद ले जाऊँगी।

धूम-धाम से जन्मोत्सव मनाया गया। बरही के दिन सारी बिरादरी का भोज हुआ। लोग खा-पीकर चले गये, तो प्यारी दिन भर की थकी-माँदी आँगन में एक टाट का टुकड़ा बिछाकर कमर सीधी करने लगी। आँखें झपक गईं। मथुरा उसी वक्त घर में आया। नवजात पुत्र को देखने के लिए उसका चित्त व्याकुल हो रहा था। दुलारी सौर-गृह से निकल चुकी थी। गर्भावस्था में उसकी देह क्षीण हो गई थी, मुँह भी उतर गया था; पर आज स्वस्थता की लालिमा मुख पर छाई हुई थी। मातृत्व के गर्व और आनन्द ने अंगों में संजीवनी-सी भर रखी थी। सौर के संयम और पौष्टिक भोजन ने देह को चिकना कर

दिया था। मथुरा उसे आँगन में देखते ही समीप आ गया और एक बार प्यारी की ओर ताककर उसके निद्रामग्न होने का निश्चय करके उसने शिशु को गोद में ले लिया और उसका मुँह चूमने लगा।

आहट पाकर प्यारी की आँखें खुल गईं ; पर उसने नींद का बहाना किया और अधखुली आँखों से यह आनन्द-क्रीड़ा देखने लगी। माता और पिता दोनों बारी-बारी से बालक को चूमते, गले लगाते और उसके मुख को निहारते थे। कितना स्वर्गीय आनन्द था। प्यारी की तृषित लालसा एक क्षण के लिए स्वामिनी को भूल गई। जैसे लगाम से मुखबद्ध, बोझ से लदा हुआ, हाँकनेवाले की चाबुक से पीड़ित, दौड़ते-दौड़ते बेदम तुरंग हिनहिनाने की आवाज़ सुनकर कनौतियाँ खड़ी कर लेता है और परिस्थिति को भूलकर एक दबी हुई हिनहिनाट से उसका जवाब देता है, कुछ वही दशा प्यारी की हुई। उसका मातृत्व जो पिंजरे में बन्द, मूक, निश्चेष्ट पड़ा हुआ था, समीप से आनेवाली मातृत्व की चहकार सुनकर जैसे जाग पड़ा और चिन्ताओं के उस पिंजरे से निकलने के लिए पंख फड़फड़ाने लगा।

मथुरा ने कहा—यह मेरा लड़का है।

दुलारी ने बालक को गोद में चिमटाकर कहा—हाँ, है क्यों नहीं। तुम्हीं ने तो नौ महीने पेट में रखा है। साँसत तो मेरी हुई, बाप कहलाने के लिए तुम कूद पड़े।

मथुरा—मेरा लड़का न होता, तो मेरी सूरत का क्यों होता! चेहरा-मोहरा, रंग-रूप सब मेरा ही-सा है कि नहीं?

दुलारी—इससे क्या होता है। बीज बनिये के घर से आता है। खेत किसान का होता है। उपज बनिये की नहीं होती, किसान की होती है।

मथुरा—बातों में तुमसे कोई न जीतेगा। मेरा लड़का बड़ा हो जायगा, तो मैं द्वार पर बैठकर मजे से हुक्का पिया करूँगा।

दुलारी—मेरा लड़का पढ़े-लिखेगा, कोई बड़ा हुद्दा पायेगा।

तुम्हारी तरह दिन-भर बैल के पीछे न चलेगा। मालकिन से कहना है, कल एक पालना बनवा दें।

मथुरा—अब बहुत सवेरे न उठा करना और छाती फाड़कर काम भी न करना।

दुलारी—यह महारानी जीने देंगी?

मथुरा—मुझे तो बेचारी पर दया आती है। उसके कौन बैठा हुआ है। हमीं लोगों के लिए तो मरती है। भैया होते, तो अब तक दो-तीन बच्चों की माँ हो गई होती।

प्यारी के कंठ में आँसुओं का ऐसा वेग उठा कि उसे रोकने में सारी देह काँप उठी। अपना वंचित जीवन उसे मरुस्थल-सा लगा, जिसकी सूखी रेत पर वह हरा-भरा बाग़ लगाने की निष्फल चेष्टा कर रही थी।

सहसा शिवदास ने भीतर आकर कहा—बड़ी बहू, क्या सो गई? बाजेवालों को अभी परोसा नहीं मिला। क्या कह दूँ?

(४)

कुछ दिनों के बाद शिवदास भी मर गया। उधर दुलारी के दो बच्चे और हुए। वह भी अधिकतर बच्चों के लालन-पालन में व्यस्त रहने लगी। खेती का काम मजूरों पर आ पड़ा। मथुरा मज़दूर तो अच्छा था, संचालक अच्छा न था। उसे स्वतन्त्र रूप से काम लेने का कभी अवसर न मिला था। खुद पहले भाई की निगरानी में काम करता रहा। बाद को बाप की निगरानी में करने लगा। खेती का तार भी न जानता था। वही मजूर उसके यहाँ टिकते थे, जो मेहनती नहीं, खुशामद करने में कुशल होते थे; इसलिए प्यारी को अब दिन में दो-चार चक्कर हार का भी लगाना पड़ता। कहने को तो वह अब भी मालकिन थी; पर वास्तव में घर-भर की सेविका थी। मजूर भी उससे त्योरियाँ बदलते, ज़मींदार का प्यादा भी उसी पर धौंस जमाता।

भोजन में भी किफ़ायत करनी पड़ती। लड़कों को तो जितनी बार माँगें उतनी बार कुछ-न-कुछ चाहिये। दुलारी तो लड़कोरी थी, उसे भी भरपूर भोजन चाहिये, मथुरा घर का सरदार था, उसके इस अधिकार को कौन छीन सकता था। मजूर भला क्यों रिश्रायत करने लगे थे। सारी कसर बेचारी प्यारी पर निकलती थी। वही एक फालतू चीज़ थी; अगर आधा ही पेट खाय, तो किसी को कोई हानि न हो सकती थी। तीस वर्ष की अवस्था में उसके बाल पक गये, कमर झुक गई, आँखों की जोत कम हो गई; मगर वह प्रसन्न थी। स्वामित्व का गौरव इन सारे ज़ख़्मों पर मरहम का काम करता था।

एक दिन मथुरा ने कहा—भाभी, अब तो कहीं परदेस जाने का जी होता है। यहाँ तो कमाई में कोई बरकत नहीं। किसी तरह पेट की रोटियाँ चल जाती हैं। वह भी रो-धोकर। कई आदमी पूरब से आये हैं, वे कहते हैं, वहाँ दो-तीन रुपए रोज़ की मजूरी हो जाती है। चार-पाँच साल भी रह गया, तो मालोमाल हो जाऊँगा। अब आगे लड़के-बाले हुए। इनके लिए कुछ तो करना ही चाहिये।

दुलारी ने समर्थन किया—हाथ में चार पैसे होंगे, लड़कों को पढ़ायेंगे-लिखायेंगे। हमारी तो किसी तरह कट गई, लड़कों को तो आदमी बनाना है।

प्यारी यह प्रस्ताव सुनकर अवाक् रह गई। उनका मुँह ताकने लगी। इसके पहले इस तरह की बात-चीत कभी न हुई थी। यह धुन कैसे सवार हो गई। उसे सन्देह हुआ, शायद मेरे कारण यह भावना उत्पन्न हुई है। बोली—मैं तो जाने को न कहूँगी, आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो। लड़कों को पढ़ाने-लिखाने के लिए यहाँ भी तो मदरसा है। फिर क्या नित्य यही दिन बने रहेंगे। दो-तीन साल भी खेती बन गई, तो सब कुछ हो जायगा।

मथुरा—इतने दिन खेती करते हो गये, जब अब तक न बनी,

तो अब क्या बन जायगी। इसी तरह एक दिन चल देंगे, मन-की-मन में रह जायगी। फिर अब पौरुख भी तो थक रहा है। यह खेती कौन सँभालेगा। लड़कों को मैं इस चक्की में जोतकर उनकी जिंदगी नहीं खराब करना चाहता।

प्यारी ने आँखों में आँसू लाकर कहा—भैया, घर पर जब तक आधी मिले, सारी के लिए न धावना चाहिये; अगर मेरी ओर से कोई बात हो तो अपना घर-बार अपने हाथ में करो, मुझे एक टुकड़ा दे देना, पड़ी रहूँगी।

मथुरा आर्द्रकंठ होकर बोला—भाभी, यह तुम क्या कहती हो, तुम्हारे ही सँभाले यह घर अब तक चला है, नहीं रसातल को चला गया होता। इस गिरस्ती के पीछे तुमने अपने को मिट्टी में मिला दिया, अपनी देह घुला डाली। मैं अन्धा नहीं हूँ। सब कुछ समझता हूँ। हम लोगों को जाने दो। भगवान ने चाहा, तो घर फिर सँभल जायगा। तुम्हारे लिए हम बराबर खरच-बरच भेजते रहेंगे।

प्यारी ने कहा—तो ऐसा ही है तो तुम चले जाव, बाल-बच्चों को कहाँ-कहाँ बाँधे फिरोगे?

दुलारी बोली—यह कैसे हो सकता है बहन, यहाँ देहात में लड़के क्या पढ़े-लिखेंगे। बच्चों के बिना इनका जी भी वहाँ न लगेगा। दौड़-दौड़ घर आवेंगे और सारी कमाई रेल खा जायगी। परदेस में अकेले जितना खरच होगा, उतने में सारा घर आराम से रहेगा।

प्यारी बोली—तो मैं ही यहाँ रहकर क्या करूँगी? मुझे भी लेते चलो।

दुलारी उसे साथ ले चलने को तैयार न थी। कुछ दिन जीवन का आनन्द उठाना चाहती थी; अगर परदेस में भी यह बन्धन रहा, तो जाने से फायदा ही क्या। बोली—बहन, तुम चलती तो क्या बात

थी ; लेकिन फिर यहाँ का सारा कारोबार तो चौपट हो जायगा। तुम तो कुछ-न-कुछ देख-भाल करती ही रहोगी।

प्रस्थान की तिथि के एक दिन पहले ही रामप्यारी ने रात-भर जागकर हलुवा और पूरियाँ पकाईं। जबसे इस घर में आई, कभी एक दिन के लिए भी अकेले रहने का अवसर नहीं आया। दोनो बहनें सदैव साथ रहीं। आज उस भयंकर अवसर को सामने आते देखकर प्यारी का दिल बैठा जाता था। वह देखती थी, मथुरा प्रसन्न है, दुलारी भी प्रसन्न है, बालवृन्द यात्रा के आनन्द में खाना-पीना तक भूले हुए हैं, तो उसके जी में आता, वह भी इसी भाँति निर्द्वन्द्व रहे, मोह और ममता को पैरों से कुचल डाले ; किन्तु वह ममता, जिस खाद्य को खा-खाकर पली थी, उसे अपने सामने से हटाये जाते देखकर क्षुब्ध होने से न रुकती थी। दुलारी तो इस तरह निश्चिन्त बैठी थी, मानो कोई मेला देखने जा रही है, नई-नई चीजों के देखने, नई दुनिया में विचरने की उत्सुकता ने उसे क्रिया-शून्य-सा कर दिया था। प्यारी के सिर सारे प्रबन्ध का भार था। धोबी के घर से सब कपड़े आये हैं या नहीं ; कौन-कौन से बर्तन साथ जायँगे, सफ़र ख़र्च के लिए कितने रुपयों की ज़रूरत होगी, एक बच्चे को खाँसी आ रही थी, दूसरे को कई दिन से दस्त आ रहे थे, उन दोनो की औषधियों को पीसना-कूटना आदि सैकड़ों ही काम उसे व्यस्त किये हुए थे। लड़कोरी न होकर भी वह बच्चों के लालन-पालन में दुलारी से कुशल थी। 'देखो, बच्चों को बहुत मारना-पीटना मत, मारने से बच्चे जिद्दी और बेहया हो जाते हैं। बच्चों के साथ आदमी को बच्चा बन जाना पड़ता है, कभी उनके साथ खेलना पड़ता है, हँसना पड़ता है। जो तुम चाहो कि हम आराम से पड़े रहें और बच्चे चुपचाप बैठे रहें, हाथ-पैर न हिलावें, तो यह नहीं हो सकता। बच्चे तो स्वभाव के चंचल होते हैं। उन्हें किसी-न-किसी काम में फँसाये रखो। धेले का एक खिलौना हज़ार घुड़कियों से बढ़कर होता है।' दुलारी उपदेशों

को इस तरह बेमन होकर सुनती थी, मानो कोई सनककर बक रहा हो।

विदाई का दिन प्यारी के लिए परीक्षा का दिन था। उसके जी में आता था, कहीं चली जाय, जिसमें वह दृश्य न देखना पड़े। हा! घड़ी-भर में यह घर सूना हो जायगा! वह दिन-भर घर में अकेली पड़ी रहेगी। किससे हँसेगी-बोलेगी? यह सोचकर उसका हृदय काँप जाता था। ज्यों-ज्यों समय निकट आता था, उसकी वृत्तियाँ शिथिल होती जाती थीं। वह कोई काम करते-करते जैसे खो जाती थी और अपलक नेत्रों से किसी वस्तु की ओर ताकने लगती थी। कभी अवसर पाकर एकान्त में जाकर थोड़ा-सा रो आती थी। मन को समझा रही थी, यह लोग अपने होते तो क्या इस तरह चले जाते। यह तो मानने का नाता है। किसी पर कोई ज़बरदस्ती है? दूसरों के लिए कितना ही मरो, तो भी अपने नहीं होते। पानी तेल में कितना ही मिले; फिर भी अलग ही रहेगा। बच्चे नये-नये कुरते पहने, नवाब बने घूम रहे थे। प्यारी उन्हें प्यार करने के लिए गोद में लेना चाहती, तो रोने का-सा मुँह बनाकर छुड़ाकर भाग जाते। वह क्या जानती थी कि ऐसे अवसर पर बहुधा अपने बच्चे भी ऐसे ही निठुर हो जाते हैं!

दस बजते-बजते द्वार पर बैलगाड़ी आ गई। लड़के पहले ही से उस पर जा बैठे। गाँव के कितने ही स्त्री-पुरुष मिलने आये। प्यारी को इस समय उनका आना बुरा लग रहा था। वह दुलारी से थोड़ी देर एकान्त में गले मिलकर रोना चाहती थी, मथुरा से हाथ जोड़कर कहना चाहती थी, मेरी खोज-खबर लेते रहना, तुम्हारे सिवा मेरा अब संसार में कौन है; लेकिन इस भभ्भड़ में उसको इन बातों का मौक़ा न मिला। मथुरा और दुलारी दोनो गाड़ी में जा बैठे और प्यारी द्वार पर रोती खड़ी रह गई। वह इतनी विह्वल थी कि गाँव के बाहर तक पहुँचाने की भी उसे सुधि न रही।

(६)

कई दिन तक प्यारी मूर्च्छित-सी पड़ी रही। न घर से निकली, न चूल्हा जलाया, न हाथ-मुँह धोया। उसका हलवाहा जोखू बार-बार आकर कहता—मालकिन, उठो, मुँह-हाथ धोवो, कुछ खाओ-पियो। कब तक इस तरह पड़ी रहोगी? इस तरह की तसल्ली गाँव की और स्त्रियाँ भी देती थीं; पर उनकी तसल्ली में एक प्रकार की ईर्ष्या का भाव छिपा हुआ जान पड़ता था। जोखू के स्वर में सच्ची सहानुभूति झलकती थी। जोखू कामचोर, बातूनी और नशेबाज़ था। प्यारी उसे बराबर डाँटती रहती थी। दो-एक बार उसे निकाल भी चुकी थी; पर मथुरा के आग्रह से फिर रख लिया था। आज भी जोखू की सहानुभूति-भरी बातें सुनकर प्यारी झुँझलाती, यह काम करने क्यों नहीं जाता, यहाँ मेरे पीछे क्यों पड़ा हुआ है; मगर उसे झिड़क देने को जी न चाहता था। उसे इस समय सहानुभूति की भूख थी। फल काँटेदार वृक्ष से भी मिलें, तो क्या उन्हें छोड़ दिया जाता है?

धीरे-धीरे क्षोभ का वेग कम हुआ। जीवन के व्यापार होने लगे। अब खेती का सारा भार प्यारी पर था। लोगों ने सलाह दी, एक हल तोड़ दो और खेतों को उठा दो; पर प्यारी का गर्व यों ढोल बजाकर अपना पराजय स्वीकार न कर सकता था। सारे काम पूर्ववत् चलने लगे। उधर मथुरा के चिट्ठी-पत्री न भेजने से उसके अभिमान को और भी उत्तेजना मिली। वह समझता है, मैं उसके आसरे बैठी हूँ। यहाँ उसको भी खिलाने का दावा रखती हूँ। उसके चिट्ठी भेजने से मुझे कोई निधि न मिल जाती। उसे अगर मेरी चिन्ता नहीं है तो मैं कब उसकी परवाह करती हूँ।

घर में तो अब विशेष कोई काम रहा नहीं, प्यारी सारे दिन खेती-बारी के कामों में लगी रहती। ख़रबूज़े बोये थे। वह खूब फले और खूब बिके। पहले सारा दूध घर में ख़र्च हो जाता था, अब बिकने लगा।

प्यारी की मनोवृत्तियों में भी एक विचित्र परिवर्तन आ गया। वह अब साफ़-सुथरे कपड़े पहनती, माँग-चोटी की ओर से भी उतनी उदासीन न थी। आभूषणों में भी रुचि हुई। रुपए हाथ में आते ही उसने अपने गिरवी गहने छुड़ाये और भोजन भी संयम से करने लगी। सागर पहले खेतों को सींचकर खुद खाली हो जाता था। अब निकास की नालियाँ बन्द हो गई थीं। सागर में पानी जमा होने लगा और अब उसमें हलकी-हलकी लहरें भी थीं, खिले हुए कमल भी थे।

एक दिन जोखू हार से लौटा, तो अँधेरा हो गया था। प्यारी ने पूछा—अब तक वहाँ क्या करता रहा?

जोखू ने कहा—चार क्यारियाँ बच रही थीं। मैंने सोचा दस मोट और खींच दूँ। कल का झंझट कौन रखे।

जोखू अब कुछ दिनों से काम में मन लगाने लगा था। जब तक मालिक उसके सिर पर सवार रहते थे, वह हीले-बहाने करता था। अब सब-कुछ उसके हाथ में था। प्यारी सारे दिन हार में थोड़े ही रह सकती थी; इसलिए अब उसमें ज़िम्मेवारी आ गई थी।

प्यारी ने लोटे का पानी रखते हुए कहा—अच्छा, हाथ-मुँह धो डालो। आदमी जान रखकर काम करता है, हाय-हाय करने से कुछ नहीं होता। खेत आज न होते कल होते, क्या जल्दी थी।

जोखू ने समझा प्यारी बिगड़ रही है। उसने तो अपनी समझ में कारगुज़ारी की थी और समझा था तारीफ़ होगी। यहाँ आलोचना हुई। चिढ़कर बोला—मालकिन, तुम दाहने-बाएँ दोनों ओर चलती हो। जो बात नहीं समझती हो, उसमें क्यों कूदती हो। कल के लिए तो उँचवा के खेत पड़े सूख रहे हैं। आज बड़ी मुसकिल से कुआँ खाली हुआ है। सबेरे मैं न पहुँचता, तो कोई और आकर न छेंक लेता। फिर अठवारे तक राह देखनी पड़ती। तब तक तो सारी ऊख बिदा हो जाती।

प्यारी उसकी सरलता पर हँसकर बोली—अरे, तो मैं तुझे कुछ कह थोड़ी रही हूँ, पागल ! मैं तो यह कहती हूँ कि जान रखकर काम कर। कहीं बीमार पड़ गया, तो लेने के देने पड़ जायँगे।

जोखू—कौन बीमार पड़ जायगा, मैं ? बीस साल से कभी सिर तक तो दुखा नहीं, आगे की नहीं जानता। कहो रात-भर काम करता रहूँ।

प्यारी—मैं क्या जानूँ, तुम्हीं अँतरे दिन बैठ रहते थे, और पूछा जाता था, तो कहते थे—जुर आ गया था, पेट में दरद था।

जोखू झेंपता हुआ बोला—वह बातें जब थीं, जब मालिक लोग चाहते थे कि इसे पीस डालें। अब तो जानता हूँ, मेरे ही माथे है। मैं न करूँगा तो सब चौपट हो जायगा।

प्यारी—मैं क्या देख-भाल नहीं करती ?

जोखू—तुम बहुत करोगी, दो बेर चली जावगी। सारे दिन तुम वहाँ बैठी नहीं रह सकतीं।

प्यारी को उसके निष्कपट व्यवहार ने मुग्ध कर दिया। बोली—तो इतनी रात गये चूल्हा जलाओगे ? कोई सगाई क्यों नहीं कर लेते ?

जोखू ने मुँह धोते हुए कहा—तुम भी खूब कहती हो मालकिन ! अपने पेट-भर को तो होता नहीं, सगाई कर लूँ ! सवा सेर खाता हूँ एक जून—पूरा सवा सेर ! दोनो जून के लिए दो सेर चाहिये।

प्यारी—अच्छा, आज मेरी रसोई में खाओ, देखूँ, कितना खाते हो।

जोखू ने पुलकित होकर कहा—नहीं मालकिन, तुम बनाते-बनाते थक जावगी। हाँ, आध-आध सेर के दो रोट बनाकर खिला दो, तो खा लूँ। मैं तो यही करता हूँ। बस, आटा सानकर दो लिट्ट बनाता हूँ और उपले पर सेंक लेता हूँ। कभी मठे से, कभी नमक से, कभी प्याज से खा लेता हूँ और आकर पड़ रहता हूँ।

प्यारी—मैं तुम्हें आज फुलके खिलाऊँगी।

जोखू—तब तो सारी रात खाते ही बीत जायगी।

प्यारी—बको मत, चटपट आकर बैठ जाओ।

जोखू—ज़रा बैलों को सानी-पानी देता आऊँ तो बैठूँ।

(७)

जोखू और प्यारी में ठनी हुई थी।

प्यारी ने कहा—मैं कहती हूँ, धान रोपने की कोई जरूरत नहीं। झड़ी लग जाय, तो खेत डूब जाय ; बर्खा बन्द हो जाय, तो खेत सूख जाय। जुआर, बाजरा, सन, अरहर सब तो हैं, धान न सही।

जोखू ने अपने विशाल कंधे पर फावड़ा रखते हुए कहा—जब सब को होगा, तो मेरा भी होगा। सब का डूब जायगा, तो मेरा भी डूब जायगा। मैं क्यों किसी से पीछे रहूँ। बाबा के जमाने में पाँच बीघे से कम नहीं रोपा जाता था, बिरजू भैया ने उसमें एक-दो बीघे और बढ़ा दिये। मथुरा ने भी थोड़ा-बहुत हर साल रोपा, तो मैं क्या सबसे गया बीता हूँ। मैं पाँच बीघे से कम न लगाऊँगा।

'तब घर के दो जवान काम करनेवाले थे।'

'मैं अकेला उन दोनो के बराबर खाता हूँ। दोनो के बराबर काम क्यों न करूँगा?'

'चल झूठा कहीं का। कहते थे, दो सेर खाता हूँ, चार सेर खाता हूँ। आध सेर में रह गये।'

'एक दिन तौलो, तब मालूम हो।'

'तौला है। बड़े खानेवाले! मैं कहे देती हूँ, धान न रोपो। मजूर मिलेंगे नहीं, अकेले हलकान होना पड़ेगा।'

'तुम्हारी बला से। मैं ही हलकान हूँगा न? यह देह किस दिन काम आयेगी।'

प्यारी ने उसके कंधे पर से फावड़ा ले लिया और बोली—तुम पहर रात से पहर रात तक ताल में रहोगे, अकेले मेरा जी ऊबेगा।

जोखू को जी ऊबने का अनुभव न था। कोई काम न हो, तो आदमी पड़कर सो रहे। जी क्यों ऊबे। बोला—जी ऊबे तो सो रहना। मैं घर रहूँगा, तब तो और जी ऊबेगा। मैं खाली बैठता हूँ, तो बार-बार खाने की सूझती है। बातों में देर हो रही है और बादल घिरे आते हैं।

प्यारी ने हारकर कहा—अच्छा कल से जाना, आज बैठो।

जोखू ने मानो बन्धन में पड़कर कहा—अच्छा, बैठ गया, कहो क्या कहती हो।

प्यारी ने विनोद करते हुए पूछा—कहना क्या है, मैं तुमसे पूछती हूँ, अपनी सगाई क्यों नहीं कर लेते? अकेली मरती हूँ। तब एक से दो तो हो जाऊँगी।

जोखू शरमाता हुआ बोला—तुमने फिर वही बेबात-की-बात छेड़ दी, मालकिन! किससे सगाई कर लूँ यहाँ? मैं ऐसी मेहरिया लेकर क्या करूँगा, जो गहनों के लिए मेरी जान खाती रहे।

प्यारी—यह तो तुमने बड़ी कड़ी शर्त लगाई। ऐसी औरत कहाँ मिलेगी, जो गहने भी न चाहे।

जोखू—यह मैं थोड़े ही कहता हूँ कि वह गहने न चाहे, हाँ मेरी जान न खाय। तुमने तो कभी गहनों के लिए हठ न किया; बल्कि अपने सारे गहने दूसरों के ऊपर लगा दिये।

प्यारी के कपोलों पर हल्का-सा रंग आ गया। बोली—अच्छा, और क्या चाहते हो?

जोखू—मैं कहने लगूँगा, तो बिगड़ जावगी।

प्यारी की आँखों में लज्जा की एक रेखा नज़र आई, बोली—बिगड़ने की बात कहोगे, तो ज़रूर बिगड़ूँगी।

जोखू—तो मैं न कहूँगा।

प्यारी ने उसे पीछे की ओर ढकेलते हुए कहा—कहोगे कैसे नहीं, मैं कहला के छोड़ूँगी।

जोखू—मैं चाहता हूँ कि वह तुम्हारी तरह हो, ऐसी ही गंभीर हो, ऐसी ही बातचीत में चतुर हो, ऐसा ही अच्छा खाना पकाती हो, ऐसी ही किफायती हो, ऐसी ही हँसमुख हो। बस, ऐसी औरत मिलेगी, तो करूँगा, नहीं इसी तरह पड़ा रहूँगा।

प्यारी का मुख लज्जा से आरक्त हो गया। उसने पीछे हटकर कहा—तुम बड़े नटखट हो। हँसी-हँसी में सब-कुछ कह गये।

गृह-नीति

जब मा बेटे से बहू की शिकायतों का दफ़्तर खोल देती है और यह सिलसिला किसी तरह ख़त्म होते नज़र नहीं आता, तो बेटा उकता जाता है और दिन-भर की थकान के कारण कुछ झुँझलाकर मा से कहता है—तो आख़िर तुम मुझसे क्या करने को कहती हो अम्माँ ? मेरा काम स्त्री को शिक्षा देना तो नहीं है। यह तो तुम्हारा काम है। तुम उसे डाँटो, मारो, जो सज़ा चाहे दो। मेरे लिए इससे ज़्यादा खुशी की और क्या बात हो सकती है कि तुम्हारे प्रयत्न से वह आदमी बन जाय। मुझसे मत कहो कि उसे सलीक़ा नहीं है, तमीज़ नहीं है, बे-अदब है। उसे डाँटकर सिखाओ।

मा—वाह, मुँह से बात तो निकलने नहीं देती, डाँटू तो मुझे नोच ही खाय। उसके सामने अपनी आबरू बचाती फिरती हूँ, कि किसी के मुँह पर मुझे कोई अनुचित शब्द न कह बैठे।

बेटा -- तो फिर इसमें मेरी क्या ख़ता है, मैं तो उसे सिखा नहीं देता कि तुमसे बे-अदबी करे !

मा—तो और कौन सिखाता है ?

बेटा – तुम तो अंधेर करती हो अम्माँ !

मा—अंधेर नहीं करती, सत्य कहती हूँ। तुम्हारी ही शह पाकर उसका दिमाग़ बढ़ गया है। जब वह तुम्हारे पास जाकर टिसवे बहाने लगती है, तो कभी तुमने उसे डाँटा, कभी समझाया कि तुझे अम्माँ का अदब करना चाहिये ? तुम तो खुद उसके गुलाम हो गये हो। वह भी समझती है, मेरा पति कमाता है, फिर मैं क्यों न रानी बनूँ, क्यों किसी से दबूँ। मर्द जब तक शह न दे, औरत का इतना गुर्दा हो ही नहीं सकता।

बेटा—तो क्या मैं उससे कह दूँ कि मैं कुछ नहीं कमाता, बिल्कुल निखट्टू हूँ। क्या तुम समझती हो, तब वह मुझे ज़लील न समझेगी ? हरएक पुरुप चाहता है कि उसकी स्त्री उसे कमाऊ, योग्य, तेजस्वी समझे, और सामान्यतः वह जितना है, उससे बढ़कर अपने को दिखाता है। मैंने कभी ऐसी नादानी नहीं की, कभी स्त्री के सामने डींग नहीं मारी; लेकिन स्त्री की दृष्टि में अपना सम्मान खोना तो कोई भी न चाहेगा।

मा—तुम कान लगाकर और ध्यान देकर और मीठी मुसकिराहट के साथ उसकी बातें सुनोगे, तो वह क्यों न शेर होगी। तुम खुद चाहते हो कि स्त्री के हाथों मेरा अपमान कराओ। मालूम नहीं, मेरे किन पापों का तुम मुझे यह दंड दे रहे हो। किन अरमानों से, कैसे-कैसे कष्ट झेलकर, मैंने तुम्हें पाला। खुद नहीं पहना, तुम्हें पहनाया; खुद नहीं खाया, तुम्हें खिलाया। मेरे लिए तुम उस मरनेवाले की मुहब्बत की निशानी थे और मेरी सारी अभिलाषाओं के केन्द्र। तुम्हारी शिक्षा पर मैंने अपने हज़ारों के आभूषण होम कर दिये। विधवा के पास दूसरी कौन-सी निधि थी। इसका तुम मुझे यह पुरस्कार दे रहे हो !

बेटा—मेरी समझ में ही नहीं आता कि आप मुझसे चाहती क्या हैं। आपके उपकारों को मैं कब मेट सकता हूँ। आपने मुझे केवल शिक्षा नहीं दिलाई, मुझे जीवन-दान दिया, मेरी सृष्टि की। अपने गहने

ही नहीं होम किये, अपना रक्त तक पिलाया ; अगर मैं सौ बार अवतार लूँ, तो भी इसका बदला नहीं चुका सकता । मैं अपनी जान में आपकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करता, यथासाध्य आपकी सेवा में कोई बात उठा नहीं रखता ; जो कुछ पाता हूँ, लाकर आपके हाथों पर रख देता हूँ ; और आप मुझसे क्या चाहती हैं, और मैं कर ही क्या सकता हूँ ? ईश्वर ने हमें और आपको और सारे संसार को पैदा किया । उसका हम उसे क्या बदला देते हैं ? क्या बदला दे सकते हैं ? उसका नाम भी तो नहीं लेते । उसका यश भी तो नहीं गाते । इससे क्या उसके उपकारों का भार कुछ कम हो जाता है ? मा के बलिदानों का प्रतिशोध कोई बेटा नहीं कर सकता, चाहे वह भूमण्डल का स्वामी ही क्यों न हो । ज्यादा-से-ज्यादा मैं आपकी दिलजोई ही तो कर सकता हूँ, और मुझे याद नहीं आता, कि मैंने कभी आपको असन्तुष्ट किया हो ।

मा—तुम मेरी दिलजोई करते हो ? तुम्हारे घर में मैं इस तरह रहती हूँ जैसे कोई लौंडी । तुम्हारी बीबी कभी मेरी बात भी नहीं पूछती । मैं भी कभी बहू थी । रात को घंटे-भर सास की देह दबाकर, उनके सिर में तेल डालकर, उन्हें दूध पिलाकर तब बिस्तर पर जाती थी । तुम्हारी स्त्री नौ बजे अपनी किताबें लेकर अपनी सहनची में जा बैठती है, दोनो खिड़कियाँ खोल लेती है और मज़े से हवा खाती है । मैं मरूँ या जीऊँ, उससे मतलब नहीं ; इसीलिए मैंने तुम्हें पाला था ?

बेटा—तुमने मुझे पाला था, तो यह सारी सेवा मुझसे लेनी चाहिये थी ; मगर तुमने मुझसे कभी नहीं कहा । मेरे अन्य मित्र भी हैं । उनमें भी मैं किसी को मा की देह में मुक्कियाँ लगाते नहीं देखता । आप मेरे कर्तव्य का भार मेरी स्त्री पर क्यों डालती हैं ? यों अगर वह आपकी सेवा करे, तो मुझसे ज्यादा प्रसन्न और कोई न होगा । मेरी आँखों में

उसकी इज़्ज़त दूनी हो जायगी। शायद उससे और ज़्यादा प्रेम करने लगूँ ; लेकिन अगर वह आपकी सेवा नहीं करती, तो आपको उससे अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है। शायद उसकी जगह मैं होता, तो मैं भी ऐसा ही करता। सास मुझे अपनी लड़की की तरह प्यार करती, तो मैं भी उसके तलुए सहलाता ; इसलिए नहीं कि वह मेरे पति की मा होती, बल्कि इसलिए कि वह मुझसे मातृवत् स्नेह करती ; मगर मुझे खुद यह बुरा लगता है, कि बहू सास के पाँव दबाये। कुछ दिन पहले स्त्रियाँ पति के पाँव दबाती थीं। आज भी उस प्रथा का लोप नहीं हुआ है ; लेकिन मेरी पत्नी मेरे पाँव दबाये तो मुझे ग्लानि होगी। मैं उससे कोई ऐसी खिदमत नहीं लेना चाहता, जो मैं उसकी भी न कर सकूँ। यह रस्म उस ज़माने की यादगार है, जब स्त्री पति की लौंडी समझी जाती थी। अब पत्नी और पति दोनो बराबर हैं। कम-से-कम मैं ऐसा ही समझता हूँ।

मा—वही तो मैं कहती हूँ, कि तुम्हीं ने उसे ऐसी-ऐसी बातें पढ़ा-कर शेर कर दिया है। तुम्हीं मुझसे बैर साध रहे हो। ऐसी निर्लज्ज, ऐसी बदज़बान, ऐसी टर्री, फूहड़ छोकड़ी संसार में न होगी। घर में अक्सर महल्ले की बहनें मिलने आती रहती हैं। यह राजा की बेटी न जाने किन गँवारों में पली है, कि किसी का भी आदर-सत्कार नहीं करती। कमरे से निकलती तक नहीं। कभी-कभी जब वह खुद उसके कमरे में चली जाती हैं, तो भी यह गधी चारपाई से नहीं उठती। प्रणाम तक नहीं करती, चरण छूना तो दूर की बात है।

बेटा—वह देवियाँ तुमसे मिलने आती होंगी। तुम्हारे और उनके बीच में न जाने क्या बातें होती हों ; अगर तुम्हारी बहू बीच में आ कूदे तो मैं उसे बदतमीज़ कहूँगा। कम-से-कम मैं तो कभी पसन्द न करूँगा, कि जब मैं अपने मित्रों से बातें कर रहा हूँ, तो तुम या तुम्हारी बहू वहाँ जाकर खड़ी हो जाय। स्त्री भी अपनी सहेलियों के साथ बैठी

हो तो मैं वहाँ बिना बुलाये न जाऊँगा। यह तो आजकल का शिष्टाचार है।

मा—तुम तो हर बात में उसी का पच्छ करते हो बेटा, न जाने उसने कौन-सी जड़ी सुँघा दी है तुम्हें। यह कौन कहता है, कि वह हम लोगों के बीच में आ कूदे ; लेकिन बड़ों का उसे कुछ तो आदर-सत्कार करना ही चाहिये।

बेटा—किस तरह ?

मा—जाकर अञ्चल से उनके चरण छुये, प्रणाम करे, पान खिलाये, पङ्खा झले। इन्हीं बातों से बहू का आदर होता है। लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। नहीं सब-की-सब यही कहती होंगी, कि बहू को घमण्ड हो गया है, किसी से सीधे मुँह बात तक नहीं करती।

बेटा—(विचार करके) हाँ, यह अवश्य उसका दोष है। मैं उसे समझा दूँगा।

मा—(प्रसन्न होकर) तुमसे सच कहती हूँ बेटा, चारपाई से उठती तक नहीं, सब औरतें थुड़ी-थुड़ी करती हैं ; मगर उसे तो शर्म जैसे छू ही नहीं गई, और मैं हूँ, कि मारे शर्म के मरी जाती हूँ।

बेटा—यही मेरी समझ में नहीं आता, कि तुम हर बात में अपने को उसके कामों का ज़िम्मेदार क्यों समझ लेती हो। मुझ पर दफ़्तर में न जाने कितनी घुड़कियाँ पड़ती हैं, रोज़ ही तो जवाब तलब होता है ; लेकिन तुम्हें उलटे मेरे साथ सहानुभूति होती है। क्या तुम समझती हो, अफ़सरों को मुझसे कोई बैर है, जो अनायास ही मेरे पीछे पड़े रहते हैं, या उन्हें उन्माद हो गया है, जो अकारण ही मुझे काटने दौड़ते हैं ? नहीं, इसका कारण यही है, कि मैं अपने काम में चौकस नहीं हूँ। ग़लतियाँ करता हूँ, सुस्ती करता हूँ, लापरवाही करता हूँ। जहाँ अफ़सर सामने से टला कि लगे समाचार-पत्र पढ़ने, या ताश खेलने। क्या उस वक्त हमें यह ख़याल नहीं रहता कि काम पड़ा हुआ

है और यह ताश खेलने का अवसर नहीं है ; लेकिन कौन परवाह करता है। सोचते हैं, साहब डाँट ही तो बतायेंगे, सिर झुकाकर सुन लेंगे, बाधा टल जायगी। पर तुम मुझे दोषी समझकर भी मेरा पक्ष लेती हो और तुम्हारा बस चले, तो हमारे बड़े बाबू को मुझसे जवाब तलब करने के अभियोग में कालेपानी भेज दो।

मा—(खिलकर) मेरे लड़के को कोई सज़ा देगा, तो क्या मैं पान-फूल से उसकी पूजा करूँगी ?

बेटा—हरेक बेटा अपनी माता से इसी तरह की कृपा की आशा रखता है और सभी माताएँ अपने लड़कों के ऐबों पर पर्दा डालती हैं। फिर बहुओं की ओर से क्यों उनका हृदय इतना कठोर हो जाता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। तुम्हारी बहू पर जब दूसरी स्त्रियाँ चोट करें, तो तुम्हारे मातृ-स्नेह का यह धर्म है, कि तुम उसकी तरफ़ से क्षमा माँगो, कोई बहाना कर दो, उनकी नज़रों में उसे उठाने की चेष्टा करो। इस तिरस्कार में तुम क्यों उनसे सहयोग करती हो ? तुम्हें क्यों उसके अपमान में मज़ा आता है ? मैं भी तो हरेक ब्राह्मण या बड़े-बूढ़े का आदर-सत्कार नहीं करता। मैं किसी ऐसे व्यक्ति के सामने सिर झुका ही नहीं सकता, जिससे मुझे हार्दिक श्रद्धा न हो। केवल सफेद बाल और सिकुड़ी हुई खाल और पोपला मुँह और झुकी हुई कमर किसी को आदर का पात्र नहीं बना देती, और न जनेऊ या तिलक या पण्डित और शर्मा की उपाधि ही भक्ति की वस्तु है। मैं लकीर-पीटू सम्मान को नैतिक अपराध समझता हूँ। मैं तो उसी का सम्मान करूँगा, जो मनसा-वाचा-कर्मणा हर पहलू से सम्मान के योग्य है। जिसे मैं जानता हूँ, कि मक्कारी और स्वार्थ-साधन और निन्दा के सिवा और कुछ नहीं करता ; जिसे मैं जानता हूँ, कि रिशवत और सूद तथा ख़ुशामद की कमाई खाता है, वह अगर ब्रह्मा की आयु लेकर भी मेरे सामने आये, तो मैं उसे सलाम न करूँ। इसे तुम मेरा अहङ्कार कह सकती हो ; लेकिन

मैं मजबूर हूँ, जब तक मेरा दिल न झुके, मेरा सिर भी न झुकेगा। मुमकिन है, तुम्हारी बहू के मन में भी उन देवियों की ओर से अश्रद्धा के भाव हों। उनमें से दो-चार को मैं भी जानता हूँ। हैं वह सब बड़े घर की; लेकिन सबके दिल छोटे, विचार छोटे। कोई निन्दा की पुतली है, तो कोई खुशामद में यकता, कोई गाली-गलौज में अनुपम। सभी रूढ़ियों की गुलाम, ईर्ष्या-द्वेष से जलनेवाली। एक भी ऐसी नहीं, जिसने अपने घर को नरक का नमूना न बना रखा हो; अगर तुम्हारी बहू ऐसी औरतों के आगे सिर नहीं झुकाती, तो मैं उसे दोषी नहीं समझता।

मा—अच्छा अब चुप रहो बेटा, देख लेना तुम्हारी यह रानी एक दिन तुमसे चूल्हा न जलवाये और झाड़ू न लगवाये, तो सही। औरतों को बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं होता। इस निर्लज्जता की भी कोई हद है, कि बूढ़ी सास तो खाना पकाये और जवान बहू बैठी उपन्यास पढ़ती रहे।

बेटा—बेशक यह बुरी बात है और मैं हर्गिज़ नहीं चाहता कि तुम खाना पकाओ और वह उपन्यास पढ़े, चाहे वह उपन्यास प्रेमचन्द ही के क्यों न हों; लेकिन यह भी तो देखना होगा कि उसने अपने घर कभी खाना नहीं पकाया। वहाँ रसोइया महाराज है। और जब चूल्हे के सामने जाने से उसके सिर में दर्द होने लगता है, तो उसे खाना पकाने के लिए मजबूर करना उस पर अत्याचार करना है। मैं तो समझता हूँ, ज्यों-ज्यों हमारे घर की दशा का उसे ज्ञान होगा, उसके व्यवहार में आप-ही-आप इसलाह होती जायगी। यह उसके घर-वालों की ग़लती है, कि उन्होंने उसकी शादी किसी धनी घर में नहीं की। हमने भी यह शरारत की कि अपनी असली हालत उनसे छिपाई और यह प्रकट किया कि हम पुराने रईस हैं। अब हम किस मुँह से यह कह सकते हैं कि तू खाना पका, या बरतन माँज, या झाड़ू लगा।

हमने उन लोगों से छल किया है और उसका फल हमें चखना पड़ेगा। अब तो हमारी कुशल इसी में है कि अपनी कुदशा को नम्रता, विनय और सहानुभूति से ढाँकें, और उसे अपने दिल को यह तसल्ली देने का अवसर दें कि बला से धन नहीं मिला, घर के आदमी तो अच्छे मिले। अगर यह तसल्ली भी हमने उससे छीन ली, तो तुम्हीं सोचो, उसको कितनी विदारक वेदना होगी। शायद वह हम लोगों की सूरत से घृणा करने लगे।

मा—उसके घरवालों को सौ दफ़े ग़रज़ थी, तब हमारे यहाँ ब्याह किया। हम कुछ उनसे भीख माँगने गये थे?

बेटा—उनको अगर लड़के की ग़रज़ थी, तो हमें धन और कन्या दोनो की ग़रज़ थी।

मा—यहाँ के बड़े-बड़े रईस हमसे नाता करने को मुँह फैलाये हुए थे।

बेटा—इसीलिए कि हमने रईसों का स्वाँग बना रखा है। घर की असली हालत खुल जाय, तो कोई बात भी न पूछे।

मा—तो तुम्हारे ससुरालवाले ऐसे कहाँ के रईस हैं। इधर ज़रा वकालत चल गई, तो रईस हो गये, नहीं तुम्हारे ससुर के बाप मेरे सामने चपरासगीरी करते थे। और लड़की का यह दिमाग़ कि खाना पकाने से सिर में दर्द होता है। अच्छे-अच्छे घरों की लड़कियाँ ग़रीबों के घर आती हैं और घर को हालत देखकर वैसा ही बर्ताव करती हैं। यह नहीं कि बैठी अपने भाग्य को कोसा करें। इस छोकरी ने हमारे घर को अपना समझा ही नहीं।

बेटा—जब तुम समझने भी दो। जिस घर में घुड़कियों, गालियों और कटुताओं के सिवा और कुछ न मिले, उसे अपना घर कौन समझे। घर तो वह है, जहाँ स्नेह और प्यार मिले। कोई लड़की डोली से उतरते ही सास को अपनी मा नहीं समझ सकती। मा तभी समझेगी,

जब सास पहले उसके साथ मा का बर्ताव करे ; बल्कि अपनी लड़की से ज़्यादा प्रिय समझे।

मा—अच्छा अब चुप रहो। जी न जलाओ। यह ज़माना ही ऐसा है कि लड़कों ने स्त्री का मुँह देखा और उसके गुलाम हुए। ये सब न जाने कौन-सा मंतर सीखकर आती हैं। यह भी बहू-बेटी के लच्छन हैं कि पहर दिन चढ़े सोकर उटें। ऐसी कुलच्छनी बहू का तो मुँह न देखे।

बेटा—मैं भी तो देर में सोकर उठता हूँ अम्माँ। मुझे तो तुमने कभी नहीं कोसा।

मा—तुम हर बात में उससे अपनी बराबरी करते हो।

बेटा—जो उसके साथ घोर अन्याय है ; क्योंकि जब तक वह इस घर को अपना नहीं समझती, तब तक उसकी हैसियत मेहमान की है, और मेहमान की हम ख़ातिर करते हैं, उसके ऐब नहीं देखते।

मा—ईश्वर न करे किसी को ऐसी बहू मिले।

बेटा—तो वह तुम्हारे घर में रह चुकी।

मा—क्या संसार में औरतों की कमी है ?

बेटा—औरतों की कमी तो नहीं ; मगर देवियों की कमी ज़रूर है।

मा—नौज ऐसी औरत ! सोने लगती है, तो बच्चा चाहे रोते-रोते बेदम हो जाय, मिनकती तक नहीं। फूल-सा बच्चा लेकर मैके गई थी, तीन महीने में लौटी, तो बच्चा आधा भी नहीं है।

बेटा—तो क्या मैं यह मान लूँ कि तुम्हें उसके लड़के से जितना प्रेम है, उतना उसे नहीं है ? यह तो प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। और मान लो, वह निरमोहिन ही है, तो यह उसका दोष है। तुम क्यों उसकी ज़िम्मेदारी अपने सिर लेती हो। उसे पूरी स्वतंत्रता है जैसे चाहे अपने बच्चे को पाले ; अगर वह तुमसे कोई सलाह पूछे, तो प्रसन्न मुख से दे दो, न पूछे तो समझ लो, उसे तुम्हारी मदद की ज़रूरत नहीं

है। सभी माताएँ अपने बच्चे को प्यार करती हैं और वह अपवाद नहीं हो सकती।

मा – तो मैं सब कुछ देखूँ और मुँह न खोलूँ ? घर में आग लगते देखूँ और चुपचाप मुँह में कालिख लगाये खड़ी रहूँ ?

बेटा—तुम इस घर को जल्द छोड़नेवाली हो, उसे बहुत दिन रहना है। घर की हानि-लाभ की जितनी चिन्ता उसे हो सकती है, तुम्हें नहीं हो सकती। फिर मैं कर ही क्या सकता हूँ ? ज़्यादा-से-ज़्यादा उसे डाँट बता सकता हूँ ; लेकिन वह डाँट की परवाह न करे और तुर्की-बतुर्की जबाब दे, तो मेरे पास ऐसा कौन-सा साधन है, जिससे मैं उसे ताड़ना दे सकूँ ?

मा—तुम दो दिन न बोलो, तो देवता सीधे हो जायँ, सामने नाक रगड़े।

बेटा—मुझे इसका विश्वास नहीं है। मैं उससे न बोलूँगा, वह भी मुझसे न बोलेगी। ज़्यादा पीछे पड़ूँगा, तो अपने घर चली जायगी।

मा—ईश्वर वह दिन लाये। मैं तुम्हारे लिए नई बहू लाऊँ।

बेटा—सम्भव है वह इसकी भी चची हो।

[सहसा बहू आकर खड़ी हो जाती है। मा और बेटा दोनो स्तम्भित हो जाते हैं, मानो कोई बम-गोला आ गिरा हो। रूपवती, नाज़ुक मिज़ाज, गर्वीली रमणी है, जो मानो शासन करने के लिए ही बनी है। कपोल तमतमाये हुए हैं ; पर अधरों पर विष-भरी मुस्कान है और आँखों में व्यंग्य मिला परिहास।]

मा –(अपनी झेंप छिपाकर) तुम्हें कौन बुलाने गया था ?

बहू—क्यों, यहाँ जो तमाशा हो रहा है, उसका आनन्द मैं न उठाऊँ ?

बेटा—मा-बेटे के बीच में तुम्हें दख़ल देने का कोई हक़ नहीं।

बहू की मुद्रा सहसा कठोर हो जाती है।

बहू—अच्छा, आप ज़बान बन्द रखिये। जो पति अपनी स्त्री की निन्दा सुनता रहे, वह पति बनने के योग्य नहीं। वह पतिधर्म का क, ख, ग भी नहीं जानता। मुझसे अगर कोई तुम्हारी बुराई करता, चाहे वह मेरी प्यारी मा ही क्यों न होती, तो मैं उसकी ज़बान पकड़ लेती। तुम मेरे घर जाते हो, तो वहाँ तो जिसे देखती हूँ, तुम्हारी प्रशंसा ही करता है। छोटे से बड़े तक गुलामों की तरह दौड़ते फिरते हैं; अगर उनके बस में हो, तो तुम्हारे लिए स्वर्ग के तारे तोड़ लावें। और उसका जवाब मुझे यहाँ यह मिलता है कि बात-बात पर ताने-मेहने, तिरस्कार, बहिष्कार। मेरे घर तो तुमसे कोई नहीं कहता कि तुम देर में क्यों उठे, तुमने अमुक महोदय को सलाम क्यों नहीं किया, अमुक के चरणों पर सिर क्यों नहीं पटका। मेरे बाबूजी कभी गवारा न करेंगे कि तुम उनकी देह पर मुक्कियाँ लगाओ, या उनकी धोती धोओ या उन्हें खाना पकाकर खिलाओ। मेरे साथ यहाँ यह बर्ताव क्यों? मैं यहाँ लौंड़ी बनकर नहीं आई हूँ, तुम्हारी जीवन-संगिनी बनकर आई हूँ। मगर जीवन-संगिनी का यह अर्थ तो नहीं कि तुम मेरे ऊपर सवार होकर मुझे चलाओ। यह मेरा काम है कि जिस तरह चाहूँ तुम्हारे साथ अपने कर्तव्य का पालन करूँ। उसकी प्रेरणा मेरी आत्मा से होनी चाहिये, ताड़ना या तिरस्कार से नहीं। अगर कोई मुझे कुछ सिखाना चाहता है, तो मा की तरह प्रेम से सिखाये, मैं सीखूँगी; लेकिन कोई ज़बरदस्ती, मेरी छाती पर चढ़कर, अमृत भी मेरे कण्ठ में ठूँसना चाहे, तो मैं ओठ बन्द कर लूँगी। मैं अब तक कब की इस घर को अपना समझ चुकी होती, अपनी सेवा और कर्तव्य का निश्चय कर चुकी होती; मगर यहाँ तो हर घड़ी, हर पल, मेरी देह में सुई चुभाकर मुझे याद दिलाया जाता है कि तू इस घर की लौंडी है, तेरा इस घर से कोई नाता नहीं, तू सिर्फ़ गुलामी करने के लिए यहाँ लाई गई है, और मेरा रक्त खौलकर रह जाता है; अगर यही हाल रहा, तो एक दिन तुम दोनो मेरी जान लेकर रहोगे।

मा – सुन रहे हो अपनी चहेती रानी की बातें। वह यहाँ लौंडी बनकर नहीं, रानी बनकर आई है, हम दोनो उसकी टहल करने के लिए हैं, उसका काम हमारे ऊपर शासन करना है। उसे कोई कुछ काम करने को न कहे, मैं खुद मरा करूँ। और तुम उसकी बातें कान लगा-कर सुनते हो। तुम्हारा मुँह कभी नहीं खुलता कि उसे डाँटो या सम-झाओ। थरथर काँपते रहते हो।

बेटा—अच्छा अम्माँ, ठंढे दिल से सोचो। मैं इसकी बातें न सुनूँ, तो कौन सुने? क्या तुम इसके साथ इतनी हमदर्दी भी नहीं देखना चाहतीं? आखिर बाबूजी जीवित थे, तब वह तुम्हारी बातें सुनते थे या नहीं? तुम्हें प्यार करते थे या नहीं? फिर मैं अपनी बीवी की बातें सुनता हूँ, तो कौन-सी नई बात करता हूँ, और इसमें तुम्हारे बुरा मानने की कौन बात है?

मा – हाय बेटा, तुम अपनी स्त्री के सामने मेरा अपमान कर रहे हो। इसी दिन के लिए मैंने तुम्हें पाल-पोसकर बड़ा किया था? क्यों मेरी छाती नहीं फट जाती?

[वह आँसू पोंछती, आपे से बाहर, कमरे से निकल जाती है। स्त्री-पुरुष दोनो कौतुक-भरी आँखों से उसे देखते हैं, जो बहुत जल्द हम-दर्दी में बदल जाती है।]

पति—मा का हृदय...

स्त्री—मा का हृदय नहीं, स्त्री का हृदय...

पति—अर्थात्?

स्त्री—जो अन्त तक पुरुष का सहारा चाहता है, स्नेह चाहता है, और उस पर किसी दूसरी स्त्री का असर देखकर ईर्ष्या से जल उठता है।

पति—क्या पगली की-सी बातें करती हो?

स्त्री—यथार्थ कहती हूँ।

पति—तुम्हारा दृष्टिकोण बिलकुल ग़लत है और इसका तजरबा तुम्हें तब होगा, जब तुम ख़ुद सास होगी।

स्त्री—मुझे सास बनना ही नहीं है। लड़का अपने हाथ-पाँव का हो जाय, ब्याह करे और अपना घर सँभाले। मुझे बहू से क्या सरोकार।

पति—तुम्हें यह अरमान बिलकुल नहीं है कि तुम्हारा लड़का योग्य हो, तुम्हारी बहू लक्ष्मी हो, और दोनो का जीवन सुख से कटे?

स्त्री—क्या मैं मा नहीं हूँ?

पति—मा और सास में क्या कोई अन्तर है?

स्त्री—उतना ही जितना ज़मीन और आसमान में है। मा प्यार करती है, सास शासन करती है। कितनी ही दयालु, सहनशील सतोगुणी स्त्री हो, सास बनते ही मानो ब्याई हुई गाय हो जाती है। जिसे पुत्र से जितना ही ज्यादा प्रेम है, वह बहू पर उतनी ही निर्दयता से शासन करती है। मुझे भी अपने ऊपर विश्वास नहीं है। अधिकार पाकर किसे मद नहीं हो जाता। मैंने तय कर लिया है, सास बनूँगी ही नहीं। औरत की गुलामी सासों के बल पर क़ायम है। जिस दिन सासें न रहेंगी, औरत की गुलामी का भी अन्त हो जायगा।

पति—मेरा ख़याल है, तुम जरा भी सहज बुद्धि से काम लो, तो तुम अम्माँ पर भी शासन कर सकती हो। तुमने हमारी बातें कुछ सुनीं?

स्त्री—बिना सुने ही मैंने समझ लिया क्या बातें हो रही होंगी। वही बहू का रोना...

पति—नहीं-नहीं। तुमने बिलकुल ग़लत समझा। अम्माँ के मिज़ाज में आज मैंने विस्मयकारी अन्तर देखा, बिलकुल अभूतपूर्व। आज वह जैसे अपनी कटुताओं पर लज्जित हो रही थीं। हाँ, प्रत्यक्ष रूप से नहीं, संकेत रूप से। अब तक वह तुमसे इसलिए नाराज़ रहती थीं कि तुम देर में उठती हो। अब शायद उन्हें यह चिन्ता हो रही है

कि कहीं सवेरे उठने से तुम्हें ठण्ढ न लग जाय। तुम्हारे लिए पानी गर्म करने को कह रही थीं।

स्त्री—(प्रसन्न होकर) सच !

पति—हाँ, मुझे तो सुनकर आश्चर्य हुआ।

स्त्री—तो अब मैं मुँह-अँधेरे उठूँगी। ऐसी ठण्ढ क्या लग जायगी; लेकिन तुम मुझे चकमा तो नहीं दे रहे हो ?

पति—अब इस बदगुमानी का क्या इलाज। आदमी को कभी-कभी अपने अन्याय पर खेद तो होता ही है।

स्त्री—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर ! अब मैं गजरदम उठूँगी। वह बेचारी मेरे लिए क्यों पानी गर्म करेंगी। मैं खुद गर्म कर लूँगी। आदमी करना चाहे तो क्या नहीं कर सकता।

पति—मुझे तो उनकी बातें सुन-सुनकर ऐसा लगता था, जैसे किसी दैवी आदेश ने उनकी आत्मा को जगा दिया हो। तुम्हारे अल्हड़-पन और चपलता पर कितना भन्नाती हैं। चाहती थीं कि घर में कोई बड़ी-बूढ़ी आ जाय, तो तुम उसके चरण छुओ; लेकिन शायद अब उन्हें मालूम होने लगा है कि इस उम्र में सभी थोड़े-बहुत अल्हड़ होते हैं। शायद उन्हें अपनी जवानी याद आ रही है। कहती थीं, यही तो शौक-सिंगार, पहनने-ओढ़ने, खाने-खेलने के दिन हैं। बुढ़ियों का तो दिन-भर ताँता लगा रहता है, कोई कहाँ तक उनके चरण छुये और क्यों छुये। ऐसी कहाँ की बड़ी देवियाँ हैं।

स्त्री—मुझे तो हर्षोन्माद हुआ चाहता है।

पति—मुझे तो विश्वास ही न आता था। स्वप्न देखने का संदेह हो रहा था।

स्त्री—अब आई हैं राह पर।

पति—कोई दैवी प्रेरणा समझो।

स्त्री—मैं कल से ठेठ बहू बन जाऊँगी। किसी को खबर भी न

होगी कि कब अपना मेक-अप करती हूँ। सिनेमा के लिए भी सप्ताह में एक दिन काफ़ी है। बूढ़ियों के पाँव छू लेने में ही क्या हरज है। वह देवियाँ न सही, चुड़ैलें सही; मुझे आशीर्वाद तो देंगी, मेरा गुण तो गायेंगी।

पति—सिनेमा का तो उन्होंने नाम भी नहीं लिया।

स्त्री—तुमको जो इसका शौक है। अब तुम्हें भी न जाने दूँगी।

पति—लेकिन सोचो, तुमने कितनी ऊँची शिक्षा पाई है, किस कुल की हो, इन खूसट बुढ़ियों के पाँव पर सिर रखना तुम्हें बिलकुल शोभा न देगा।

स्त्री—तो क्या ऊँची शिक्षा के यह मानी हैं कि हम दूसरों को नीचा समझें? बुड्ढे कितने ही मूर्ख हों, लेकिन दुनिया का तजरबा तो रखते हैं। कुल की प्रतिष्ठा भी नम्रता और सद्व्यवहार से होती है, हेकड़ी और रुखाई से नहीं।

पति—मुझे तो यही ताज्जुब होता है कि इतनी जल्द इनकी काया-पलट कैसे हो गई। अब इन्हें बहुओं का सास के पाँव दबाना या उनकी साड़ी धोना, या उनकी देह में मुक्कियाँ लगाना बुरा लगने लगा है। कहती थीं, बहू कोई लौंडी थोड़े ही है कि बैठी सास के पाँव दबाये।

स्त्री—मेरी क़सम?

पति—हाँ जी, सच कहता हूँ। और तो और, अब वह तुम्हें खाना भी न पकाने देंगी। कहती थीं, जब बहू के सिर में दर्द होता है, तो क्यों उसे सताया जाय, कोई महाराज रख लो।

स्त्री—(फूली न समाकर) मैं तो आकाश में उड़ी जा रही हूँ। ऐसी सास के तो चरण धो-धोकर पिये; मगर तुमने पूछा नहीं, अब तक तुम क्यों उसे मार-मारकर हकीम बनाने पर तुली रहती थीं?

पति—पूछा क्यों नहीं, भला मैं छोड़नेवाला था। बोलीं, मैं अन्धी हो गई थी; मैंने हमेशा खाना पकाया है, फिर वह क्यों न पकाये।

लेकिन अब उनकी समझ में आया है कि वह निर्धन बाप की बेटी थीं, तुम सम्पन्न कुल की कन्या हो।

स्त्री—अम्माँजी दिल की साफ़ हैं।

पति—बस, ज़रा पुरानी लकीर पर जान देती हैं।

स्त्री—इसे मैं क्षमा के योग्य समझती हूँ। जिस जल-वायु में हम पलते हैं, उसे एकबारगी नहीं बदल सकते। जिन रूढ़ियों और परम्पराओं में उनका जीवन बीता है, उन्हें तुरन्त त्याग देना उनके लिए कठिन है। वह क्या, कोई भी नहीं छोड़ सकता। वह तो फिर भी बहुत उदार हैं। तुम अभी महाराज मत रखो। ख़्वामख़्वाह ज़ेरबार क्यों होगे, जब तरक़्क़ी हो जाय, तो महाराज रख लेना। अभी मैं ख़ुद पका लिया करूँगी। तीन-चार प्राणियों का खाना ही क्या। मेरी ज़ात से कुछ तो अम्माँजी को आराम मिले। मैं जानती हूँ सब कुछ ; लेकिन कोई रोब जताना चाहे, तो मुझसे बुरा कोई नहीं।

पति—मगर यह तो मुझे बुरा लगेगा, कि तुम रात को अम्माँ के पाँव दबाने बैठो।

स्त्री—बुरा लगने की कौन बात है, जब उन्हें मेरा इतना ख़याल है, तो मुझे भी उनका लिहाज़ करना ही चाहिये। जिस दिन मैं उनके पाँव दबाने बैठूँगी, वह मुझ पर प्राण देने लगेंगी। आख़िर बहू-बेटे का कुछ सुख उन्हें भी तो हो। बड़ों की सेवा करने में हेठी नहीं होती। बुरा जब लगता है, जब वह शासन करते हैं, और अम्माँ मुझसे पाँव दबवायेंगी थोड़े ही। सेंत का यश मिलेगा।

पति—अब तो अम्माँ को तुम्हारी फ़ुज़ूलखर्ची भी बुरी नहीं लगती। कहती थीं, रुपए-पैसे बहू के हाथ में दे दिया करो।

स्त्री—चिढ़कर तो नहीं कहती थीं ?

पति—नहीं-नहीं, प्रेम से कह रही थीं। उन्हें अब भय हो रहा है, कि उनके हाथ में पैसे रहने से तुम्हें असुविधा होती होगी। तुम बार-

बार उनसे माँगते लजाती भी होगी और डरती भी होगी और तुम्हें अपनी ज़रूरतों को रोकना पड़ता होगा।

स्त्री—ना भैया, मैं यह जंजाल अभी अपने सिर न लूँगी। तुम्हारी थोड़ी-सी तो आमदनी है, कहीं जल्दी से ख़र्च हो जाय, तो महीना कटना मुश्किल हो जाय। थोड़े में निर्वाह करने की विद्या उन्हीं को आती है। मेरी ऐसी ज़रूरतें ही क्या हैं। मैं तो केवल अम्माँजी को चिढ़ाने के लिए उनसे बार-बार रुपए माँगती थी। मेरे पास तो ख़ुद सौ-पचास रुपए पड़े रहते हैं। बाबूजी का पत्र आता है, तो उसमें दस-बीस के नोट ज़रूर होते हैं; लेकिन अब मुझे हाथ रोकना पड़ेगा। आख़िर बाबूजी कब तक देते चले जायँगे और यह कौन-सी अच्छी बात है, कि मैं हमेशा उन पर टैक्स लगाती रहूँ।

पति—देख लेना, अम्माँ अब तुम्हें कितना प्यार करती हैं।

स्त्री—तुम भी देख लेना, मैं उनकी कितनी सेवा करती हूँ।

पति—मगर शुरू तो उन्हीं ने किया?

स्त्री—केवल विचार में। व्यवहार में आरम्भ मेरी ही ओर से होगा। भोजन पकाने का समय आ गया। मैं चलती हूँ। आज कोई ख़ास चीज़ तो न खाओगे?

पति—तुम्हारे हाथों की रूखी रोटियाँ भी पकवान का मज़ा देंगी।

स्त्री—अब तुम नटखटी करने लगे।

बड़े घर की बेटी

बेनीमाधव सिंह गौरीपुर गाँव के ज़मींदार और नम्बरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य संपन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मन्दिर, जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तंभ थे। कहते हैं, इस दरवाजे पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में अस्थि-पंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था; पर दूध शायद बहुत देती थी क्योंकि एक-न-एक आदमी हाँड़ी लिये उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधव सिंह अपनी आधी से अधिक संपत्ति वकीलों की भेंट कर चुके थे। उनकी वर्तमान आय एक हज़ार रुपए वार्षिक से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकंठ सिंह था। उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ़्तर में नौकर था। छोटा लड़का लालबिहारी सिंह दोहरे बदन का, सजीला जवान था। भरा हुआ मुखड़ा, चौड़ी छाती। भैंस का दो सेर ताज़ा दूध वह उठकर सवेरे पी जाता था। श्रीकंठ सिंह की दशा बिलकुल विपरीत थी। इन

नेत्र-प्रिय गुणों को उन्होंने बी० ए०—उन्हीं दो अक्षरों पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कांतिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक ग्रंथों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। शाम-सवेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकंठ इस अँगरेज़ी डिग्री के अधिपति होने पर भी अँगरेज़ी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे; बल्कि वह बहुधा बड़े ज़ोर से उनकी निन्दा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी-न-किसी पात्र का पार्ट लेते थे। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का गुण-गान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब के तो वह एक-मात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों की कुटुम्ब में मिल-जुलकर रहने की जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश दोनो के लिए हानिकारक समझते थे। यही कारण था, कि गाँव की ललनाएँ उनकी निन्दक थीं! कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं। स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था। यह इसलिए नहीं कि उसे अपनी सास-ससुर, देवर या जेठ आदि से घृणा थी; बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आये-दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकाई जाय।

आनन्दी एक बड़े उच्च कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज़, बहरी-शिकरे, झाड़-फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण जो एक

प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहाँ विद्यमान थे। नाम था भूप सिंह। बड़े उदारचित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे ; पर दुर्भाग्य से लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सब की सब जीवित रहीं। पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किये ; पर जब पन्द्रह-बीस हज़ार रुपयों का कर्ज़ सिर पर हो गया, तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिया। आनन्दी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहनों से अधिक रूपवती और गुणवती थी। इससे ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्म-संकट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें। न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्य-हीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकण्ठ उनके पास किसी चन्दे का रुपया माँगने आये। शायद नागरी-प्रचार का चन्दा था। भूप सिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम से श्रीकंठसिंह का आनन्दी के साथ ब्याह हो गया।

आनन्दी अपने नये घर में आई, तो यहाँ का रंग-ढंग कुछ और ही देखा। जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहाँ नाम-मात्र को भी न थी। हाथी, घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुन्दर बहेली तक न थी। रेशमी स्लीपर साथ लाई थी ; पर यहाँ बाग़ कहाँ ! मकान में खिड़कियाँ तक न थीं; न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थ का मकान था ; किन्तु आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नई अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

(२)

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारी सिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आया और भावज से बोला—जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है।

आनन्दी भोजन बनाकर इसकी राह देख रही थी। अब यह नया व्यञ्जन बनाने बैठी। हाँड़ी में देखा, तो घी पाव भर से अधिक न था। बड़े घर की बेटी, किफ़ायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था, बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा ?

आनन्दी ने कहा—घी सब मांस में पड़ गया।

लालबिहारी ज़ोर से बोला—अभी परसों घी आया है, इतनी जल्द उठ गया ?

आनन्दी ने उत्तर दिया—आज तो कुल पाव भर रहा होगा। वह सब मैंने मांस में डाल दिया।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक जाता है। लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई, तिनककर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो !

स्त्री गालियाँ सह लेती हैं, मार भी सह लेती हैं; पर मैके की निन्दा उनसे नहीं सही जाती। आनन्दी मुँह फेरकर बोली—हाथी मरा भी तो नौ लाख का। वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।

लालबिहारी जल गया, थाली उठाकर पटक दी, और बोला—जी चाहता है, जीभ पकड़कर खींच लूँ।

आनन्दी को भी क्रोध आ गया। मुँह लाल हो गया, बोली—वह होते, तो आज इसका मज़ा चखाते।

अब अपढ़, उजड्ड ठाकुर से न रहा गया। उसकी स्त्री एक साधारण ज़मींदार की बेटी थी। जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ़ कर लिया करता था। उसने खड़ाऊँ उठाकर आनन्दी की ओर जोर से फेंकी, और बोला—जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी !

आनन्दी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी; सिर बच गया, पर उँगली में

बड़ी चोट आई। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गई। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमण्ड होता है। आनन्दी ख़ून का घूँट पीकर रह गई।

(३)

श्रीकंठ सिंह शनिवार को घर आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनन्दी कोप-भवन में रही। न कुछ खाया, न पिया, उनकी बाट देखती रही। अन्त में शनिवार को वह नियमानुकूल सन्ध्या समय घर आये और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश-काल-सम्बन्धी समाचार तथा कुछ नये मुकदमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनन्द मिलता था, कि खाने-पीने की सुध न रहती थी। श्रीकंठ को पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। ये दो-तीन घण्टे आनन्दी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। जब एकान्त हुआ, तो लालबिहारी ने कहा—भैया, आप ज़रा भाभी को समझा दीजियेगा, कि मुँह सँभालकर बातचीत किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।

बेनीमाधव सिंह ने बेटे की ओर साक्षी दी—हाँ, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं, कि मर्दों के मुँह लगें।

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी हैं, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं।

श्रीकंठ ने चिंतित स्वर से पूछा—आख़िर बात क्या हुई?

लालबिहारी ने कहा—कुछ भी नहीं, योंहीं आप-ही-आप उलझ पड़ी। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझती ही नहीं।

श्रीकंठ खा-पीकर आनन्दी के पास गये। वह भरी बैठी थी। यह हज़रत भी कुछ तीखे थे। आनन्दी ने पूछा—चित्त तो प्रसन्न है?

श्रीकंठ बोले—बहुत प्रसन्न है ; पर तुमने आजकल घर में यह क्या उपद्रव मचा रखा है ?

आनन्दी की तेवरियों पर बल पड़ गये, झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी। बोली—जिसने तुमसे यह आग लगाई है, उसे पाऊँ तो मुँह झुलस दूँ।

श्रीकंठ—इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो।

आनन्दी—क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है, नहीं तो गँवार छोकरा, जिसको चपरासगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।

श्रीकंठ—सब साफ़-साफ़ हाल कहो तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।

आनन्दी—परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा। घी हाँड़ी में पाव भर से अधिक न था। वह सब मैंने मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा, तो कहने लगा— दाल में घी क्यों नहीं है ? बस, इसी पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा—मुझसे न रहा गया। मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं, और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस, इतनी-सी बात पर इस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लूँ, तो सिर फट जाय। उसी से पूछो, मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ।

श्रीकंठ की आँखें लाल हो गईं। बोले—यहाँ तक हो गया ! इस छोकरे का यह साहस !

आनन्दी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकंठ बड़े धैर्यवान् और शांत पुरुष थे। उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था ; पर स्त्रियों के आँसू पुरुषों की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रात भर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के

पास जाकर बोले—दादा, अब इस घर में मेरा निबाह न होगा।

इस तरह की विद्रोहपूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था; परन्तु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वे ही बातें अपने मुँह से कहनी पड़ीं। दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधव सिंह घबरा उठे और बोले—क्यों?

श्रीकंठ—इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिये, वे उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का नौकर ठहरा, घर पर रहता नहीं; यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिंता नहीं, कोई एक की दो कह ले, यहाँ तक मैं सह सकता हूँ; किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता, कि मेरे ऊपर लात-घूँसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधव सिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया। केवल इतना ही बोला—बेटा, तुम बुद्धिमान् होकर ऐसी बातें करते हो? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती हैं, उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।

श्रीकंठ—इतना मैं जानता हूँ, आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं, कि मेरे ही समझाने-बुझाने से, इसी गाँव में कई घर सँभल गये; पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूँ, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिये, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दण्ड नहीं देता।

अब बेनीमाधव सिंह भी गरमाये। ऐसी बातें और न सुन सके। बोले—लालबिहारी तुम्हारा भाई है। उससे जब कभी भूल-चूक हो, उसके कान पकड़ो। लेकिन...

श्रीकंठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधव सिंह—स्त्री के पीछे ?

श्रीकंठ—जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनो कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शान्त करना चाहते थे ; लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे, कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना, कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार है, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनो पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्माएँ तल-मलाने लगीं। गाँव में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीति-पूर्ण गति पर मन-ही-मन जलते थे। वे कहा करते थे—श्रीकंठ अपने बाप से दबता है, इसलिए वह दब्बू है। उसने विद्या पढ़ी इसलिए वह किताबों का कीड़ा है। बेनीमाधव सिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभ काम-नाएँ आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया। बेनीमाधव सिंह पुराने आदमी थे। इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया, कि चाहे कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरन्त कोमल शब्दों में बोले—बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभव-रहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका। उसे डिबेटिंग-क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकंडों की उसे क्या ख़बर ? बाप ने जिस मतलब से बात पलटी थी, वह उसकी समझ में न आया। बोला—मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।

बेनीमाधव—बेटा, बुद्धिमान् लोग मूर्खों की बात पर ध्यान नहीं

देते। वह बेसमझ लड़का है। उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े होकर क्षमा करो।

श्रीकंठ—उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही। आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे बिदा कीजिये, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं, तो उससे कहिये, जहाँ चाहे चला जाय। बस, यह मेरा अंतिम निश्चय है।

लालबिहारी सिंह दरवाज़े की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े भाई की बातें सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस न हुआ था, कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले, या पान खा ले। बाप का भी वह इतना मान न करता था। श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब वह इलाहाबाद से आते, तो उसके लिए कोई-न-कोई वस्तु अवश्य लाते। मुगदर की जोड़ी उन्होंने बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्योढ़े जवान को नागपंचमी के दिन दंगल में पछाड़ दिया, तो उन्होंने पुलकित होकर अखाड़े में ही जाकर उसे गले लगा लिया था, पाँच रुपए के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुंह से आज ऐसी हृदय-विदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूटकर रोने लगा। इसमें सन्देह नहीं, कि वह अपने किये पर पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी, कि देखूँ, भैया क्या कहते हैं। मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा, उनसे कैसे बोलूँगा, मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था, कि भैया मुझे बुलाकर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था; परन्तु उसका मन कहता था, कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकंठ उसे अकेले में बुलाकर दो-चार कड़ी बातें कह देते,

इतना ही नहीं, दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता ; पर भाई का यह कहना, कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से न सहा गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोंछीं, जिसमें कोई यह न समझे, कि रोता था। तब आनंदी के द्वार पर आकर बोला—भाभी, भैया ने निश्चय किया है, कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। वह अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, इसलिए मैं अब जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

(४)

जिस समय लालबिहारी सिंह सिर झुकाये आनन्दी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकंठ सिंह भी आँखें लाल किये बाहर से आये। भाई को खड़ा देखा, तो घृणा से आँखें फेर लीं, और कतराकर निकल गये। मानो उसकी परछाहीं से दूर भागते हैं।

आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी ; लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था, कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने गरम क्यों होते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था, कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें, तो कैसे क्या करूँगी। इसी बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाज़े पर खड़े यह कहते सुना, कि अब मैं जाता हूँ, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया। वह रोने लगी। मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकंठ को देखकर आनन्दी ने कहा—लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकंठ—तो मैं क्या करूँ ?

आनंदी—भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे, मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकंठ—मैं न बुलाऊँगा।

आनंदी—पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गई है, ऐसा न हो कहीं चल दें।

श्रीकंठ न उठे। इतने में लालबिहारी ने फिर कहा—भाभी, भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते ; इसलिए मैं भी अपना मुँह न दिखाऊँगा।

लालबिहारी इतना कहकर लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाज़े की ओर बढ़ा। अन्त में आनंदी कमरे से निकली, और उसका हाथ पकड़ लिया। लालबिहारी ने पीछे फिरकर देखा, और आँखों में आँसू भरे बोला—मुझे जाने दो।

आनंदी—कहा जाते हो ?

लालबिहारी—जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।

आनंदी—मैं न जाने दूँगी।

लालबिहारी—मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।

आनंदी—तुम्हें मेरी सौगंध, अब एक पग भी आगे न बढ़ना।

लालबिहारी—जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय, कि भैया का मन मेरी तरफ़ से साफ़ हो गया, तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनंदी—मैं ईश्वर की साक्षी देकर कहती हूँ, कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनो भाई खूब फूट-फूटकर रोये। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा—भैया, अब कभी मत कहना, कि तुम्हारा

मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दण्ड देंगे, वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

श्रीकंठ ने काँपते हुए स्वर से कहा—लल्लू, इन बातों को बिलकुल भूल जाओ। ईश्वर चाहेगा, तो फिर ऐसा अवसर न आवेगा।

बेनीमाधव सिंह बाहर से आ रहे थे। दोनो भाइयों को गले मिलते देखकर आनन्द से पुलकित हो गये। बोल उठे—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गाँव में जिसने यह वृत्तांत सुना, उसी ने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा—'बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।'

दो बहनें

दोनों बहनें दो साल के बाद एक तीसरे नातेदार के घर मिलीं और खूब रो-धोकर खुश हुईं तो बड़ी बहन रूपकुमारी ने देखा कि छोटी बहन रामदुलारी सिर से पाँव तक गहनों से लदी हुई है, कुछ उसका रंग खुल गया है, स्वभाव में कुछ गरिमा आ गई है और बातचीत करने में ज़्यादा चतुर हो गई है। क़ीमती बनारसी सारी और बेलदार उन्नाबी मख़मल के जम्पर ने उसके रूप को और भी चमका दिया था—वही रामदुलारी, जो लड़कपन में सिर के बाल खोले, फूहड़-सी, इधर-उधर खेला करती थी। अंतिम बार रूपकुमारी ने उसे उसके विवाह में देखा था, दो साल पहले। तब भी उसकी शक्ल-सूरत में ज़्यादा अंतर न हुआ था। लंबी तो हो गई थी, मगर थी उतनी ही दुबली, उतनी ही फूहड़, उतनी ही मंदबुद्धि, ज़रा-ज़रा-सी बात पर रूठनेवाली। मगर आज तो कुछ हालत ही और थी, जैसे कली खिल गई हो। और यह रूप इसने छिपा कहाँ रखा था? नहीं, आँखों को धोखा हो रहा है। यह रूप नहीं, केवल आँखों को लुभाने की शक्ति है, रेशम और मख़मल और सोने के बल

पर। वह रूप-रेखा थोड़े ही बदल जायगी। फिर भी आँखों में समाई जाती है। पचासों स्त्रियाँ जमा हैं, मगर यह आकर्षण, यह जादू और किसी में नहीं!

कहीं आईना मिलता तो वह ज़रा अपनी सूरत भी देखती। घर में चलते समय उसने आईना देखा था। अपने रूप को चमकाने के लिए जितना सान चढ़ा सकती थी, उससे कुछ अधिक ही चढ़ाया था। लेकिन अब वह सूरत जैसे स्मृति से मिट गई है, उसकी धुँधली-सी परछाहीं भर हृदय-पट पर है। उसे फिर से देखने के लिए वह बेक़रार हो रही है। वह अब तुलनात्मक दृष्टि से देखेगी, रामदुलारी में यह आकर्षण कहाँ से आया, इस रहस्य का पता लगावेगी। यों उसके पास मेक-अप की सामग्रियों के साथ छोटा-सा आईना भी है, लेकिन भीड़-भाड़ में वह आईना देखने या बनाव-सिंगार करने की आदी नहीं है। ये औरतें दिल में न-जाने क्या समझें। मगर यहाँ कोई आईना तो होगा ही। ड्राइंग-रूम में तो ज़रूर ही होगा। वह उठकर ड्राइंग-रूम में गई और क़देआदम शीशे में अपनी सूरत देखी। वहाँ इस वक़्त और कोई न था। मर्द बाहर सहन में थे, औरतें गाने-बजाने में लगी हुई थीं। उसने आलोचनात्मक दृष्टि से एक-एक अंग को, अंगों के एक-एक विलास को देखा। उसका अंग-विन्यास, उसकी मुख-छवि निष्कलंक है। मगर वह ताज़गी, वह मादकता, वह माधुर्य नहीं है। हाँ, नहीं है। वह अपने को धोखे में नहीं डाल सकती। कारण क्या है? यही कि रामदुलारी आज खिली है, उसे खिले ज़माना हो गया। लेकिन इस ख़याल से उसका चित्त शांत नहीं होता। वह रामदुलारी से हेठी बनकर नहीं रह सकती। ये पुरुष भी कितने गावदी होते हैं। किसी में भी सच्चे सौंदर्य की परख नहीं। इन्हें तो जवानी और चंचलता और हाव-भाव चाहिये। आँखें रखकर भी अंधे बनते हैं। भला इन बातों का रूप से क्या संबंध! ये तो उम्र के तमाशे हैं। असली रूप तो वह है,

जो समय की परवाह न करे। उसके कपड़ों में रामदुलारी को खड़ा कर दो, फिर देखो यह सारा जादू कहाँ उड़ जाता है। चुड़ैल-सी नज़र आये। मगर इन अन्धों को कौन समझाये।

मगर रामदुलारी के घरवाले तो इतने सम्पन्न न थे। विवाह में जो जोड़े और गहने आये थे, वे तो बहुत ही निराशाजनक थे। ख़ुशहाली का दूसरा कोई सामान भी न था। इसके ससुर एक रियासत के मुख़्तारआम थे, और दूल्हा कॉलेज में पढ़ता था। इस दोसाल में कहाँ से हुन बरस गया। कौन जाने, गहने कहीं से माँग लाई हो। कपड़े भी माँगे के हो सकते हैं। कुछ औरतों को अपनी हैसियत बढ़ाकर दिखाने की लत होती है। तो यह स्वाँग रामदुलारी को मुबारक रहे। मैं जैसी हूँ, वैसी अच्छी हूँ। प्रदर्शन का यह रोग कितना बढ़ता जाता है। घर में रोटियों का ठिकाना नहीं है, मर्द २५-३० रुपए पर क़लम घिस रहा है; लेकिन देवीजी घर से निकलेंगी तो इस तरह बन-ठनकर, मानो कहीं की राजकुमारी हैं। बिसातियों के और दरज़ियों के तक़ाज़े सहेंगी, बज़ाज़ के सामने हाथ जोड़ेंगी, शौहर की घुड़कियाँ खायँगी, रोयेंगी, रूठेंगी, मगर प्रदर्शन के उन्माद को नहीं रोक सकतीं। घरवाले भी सोचते होंगे, कितनी छिछोरी तबियत है इसकी। मगर यहाँ तो देवीजी ने बेहयाई पर कमर बाँध ली है। कोई कितना ही हँसे, बेहया की बला दूर। उन्हें तो बस यही धुन सवार है कि जिधर निकल जायँ, उधर लोग हृदय पर हाथ रखकर रह जायँ। रामदुलारी ने ज़रूर किसी से गहने और ज़ेवर माँग लिये हैं। बेशर्म जो है!

उसके चेहरे पर आत्म-सम्मान की लाली दौड़ गई। न सही उसके पास ज़ेवर और कपड़े। उसे किसी के सामने लज्जित तो नहीं होना पड़ता। किसी से मुँह तो नहीं चुराना पड़ता। एक-एक लाख के तो उसके दो लड़के हैं। भगवान् उन्हें चिरायु करे, वह इसी में ख़ुश हैं। ख़ुद अच्छा पहन लेने और अच्छा खा लेने से तो जीवन का उद्देश्य नहीं

पूरा हो जाता। उसके घरवाले ग़रीब हैं, पर उनकी इज़्ज़त तो है, किसी का गला तो नहीं दबाते, किसी का शाप तो नहीं लेते।

इस तरह अपने मन को ढारस देकर वह फिर बरामदे में आई, तो रामदुलारी ने जैसे उसे दया की आँखों से देखकर कहा—जीजाजी की कुछ तरक्क़ी-वरक्क़ी हुई कि नहीं बहन? या अभी तक वही ७५) पर क़लम घिस रहे हैं?

रूपकुमारी की देह में आग-सी लग गई। उफ्फ़ोह रे दिमाग़! मानो इसका पति लाट ही तो है। अकड़कर बोली—तरक्क़ी क्यों नहीं हुई। अब सौ के ग्रेड में हैं। आजकल यह भी ग़नीमत है, नहीं, अच्छे-अच्छे एम्० ए० पासों को देखती हूँ कि कोई टके को नहीं पूछता। तेरा शौहर तो अब बी० ए० में होगा?

रामदुलारी ने नाक सिकोड़कर कहा—उन्होंने तो पढ़ना छोड़ दिया बहन, पढ़कर औक़ात ख़राब करना था और क्या। एक कम्पनी के एजेंट हो गये हैं अब ढाई सौ रुपए माहवार पाते हैं। कमीशन ऊपर से। पाँच रुपए रोज़ सफ़र-ख़र्च के भी मिलते हैं। यह समझ लो कि पाँच सौ का औसत पड़ जाता है। डेढ़ सौ माहवार तो उनका निज का ख़र्च है बहन। ऊँचे ओहदे के लिए अच्छी हैसियत भी तो चाहिये। साढ़े तीन सौ बेदाग़ घर दे देते हैं। उसमें से सौ रुपए मुझे मिलते हैं, ढाई सौ में घर का ख़र्च ख़ुशफ़ेली से चल जाता है। एम्० ए० पास करके क्या करते।

रूपकुमारी इस कथन को शेख़चिल्ली की दास्तान से ज़्यादा महत्त्व नहीं देना चाहती, मगर रामदुलारी के लहज़े (ध्वनि) में इतनी विश्वासोत्पादकता है कि अपनी निम्नचेतना में उससे प्रभावित हो रही है और उसके मुख पर पराजय की खिन्नता साफ़ झलक रही है। मगर यदि उसे बिल्कुल पागल नहीं हो जाना है तो इस ज्वाला को हृदय से निकाल देना पड़ेगा। जिरह करके अपने मन को विश्वास

दिखाना पड़ेगा कि इसके कथन में एक चौथाई से ज़्यादा सत्य नहीं है। एक चौथाई तक वह सह सकती है। इससे ज़्यादा उससे न सहा जायगा। इसके साथ ही उसके दिल में धड़कन भी है कि कहीं यह कथा सत्य निकली तो वह रामदुलारी को कैसे मुँह दिखायेगी। उसे भय है कि कहीं अपनी आँखों से आँसू न निकल पड़ें। कहाँ पछत्तर और कहाँ पाँच सौ! इतनी बड़ी रक़म आत्मा की हत्या करके भी क्यों न मिले, फिर भी रूपकुमारी के लिए असह्य है। आत्मा का मूल्य अधिक से अधिक सौ रुपए हो सकता है। पाँच सौ किसी हालत में भी नहीं।

उसने परिहास के भाव से पूछा—जब एजेंटी में इतना वेतन और भत्ता मिलता है तो ये सारे कॉलेज बन्द क्यों नहीं हो जाते? हज़ारों लड़के क्यों अपनी ज़िंदगी ख़राब करते हैं?

रामदुलारी बहन के खिसियानेपन का आनंद उठाती हुई बोली—बहन, तुम यहाँ भूल कर रही हो। एम्० ए० तो सभी पास हो सकते हैं, मगर एजेंटी बिरले ही किसी को आती है। यह तो ईश्वर की देन है। कोई ज़िंदगी भर पढ़ता रहे, मगर यह ज़रूरी नहीं कि वह अच्छा एजेंट भी हो जाय। रुपए पैदा करना दूसरी बात है, आलिम-फ़ाज़िल हो जाना दूसरी बात। अपने माल की श्रेष्ठता का विश्वास पैदा करा देना, यह दिल में जमा देना कि इससे सस्ता और टिकाऊ माल बाज़ार में मिल ही नहीं सकता, आसान काम नहीं है। एक से एक घाघों से उनका साबक़ा पड़ता है। बड़े-बड़े राजाओं और रईसों का मन फेरना पड़ता है, तब जाके कहीं माल बिकता है। मामूली आदमी तो राजाओं और नवाबों के सामने जा ही न सके। पहुँच ही न हो। और किसी तरह पहुँच भी जाय तो ज़बान न खुले। पहले-पहल तो इन्हें भी झिझक हुई थी, मगर अब तो इस सागर के मगर हैं। अगले साल तरक़्क़ी होनेवाली है।

रूपकुमारी की धमनियों में रक्त की गति जैसे बंद हुई जा रही है। निर्दयी आकाश गिर क्यों नहीं पड़ता ! पाषाण-हृदया धरती फट क्यों नहीं जाती ! यह कहाँ का न्याय है कि रूपकुमारी जो रूपवती है, तमीज़दार है, सुघड़ है, पति पर जान देती है, बच्चों को प्राणों से भी ज़्यादा चाहती है, थोड़े में गृहस्थी को इतने अच्छे ढंग से चलाती है, उसकी तो यह दुर्गति ; और यह घमंडिन, बदतमीज़ विलासिनी, चंचल, मुँहफट छोकरी, जो अभी कल तक सिर खोले घूमा करती थी, रानी बन जाय ? मगर उसे अब भी कुछ आशा बाक़ी थी। शायद आगे चलकर उसके चित्त की शांति का कोई मार्ग निकल आये।

उसी परिहास के स्वर में बोली—तब तो शायद एक हज़ार मिलने लगें ?

'एक हज़ार तो नहीं, पर छः सौ में संदेह नहीं।'

'कोई आँखों का अंधा मालिक फँस गया होगा ?'

'व्यापारी आँखों के अंधे नहीं होते दीदी ! उनकी आँखें हमारी तुम्हारी आँखों से कहीं तेज़ होती हैं। जब तुम उन्हें छः हज़ार कमाकर दो, तब कहीं छः सौ मिलें। जो सारी दुनिया को चराये उसे कौन बेवक़ूफ़ बनावेगा।'

परिहास से काम न चलते देखकर रूपकुमारी ने अपमान का अस्त्र निकाला—मैं तो इसे कोई बहुत अच्छा पेशा नहीं समझती। सारे दिन झूठ के तूमार बाँधो। यह तो ठग-विद्या है।

रामदुलारी ज़ोर से हँसी। बहन पर उसने पूरी विजय पाई थी।

'इस तरह तो जितने वकील बैरिस्टर हैं, सभी ठग-विद्या करते हैं। अपने मुवक्किल के फ़ायदे के लिए उन्हें क्या नहीं करना पड़ता ? झूठी शहादतें तक बनानी पड़ती हैं। मगर उन्हीं वकीलों और बैरिस्टरों को हम अपना लीडर कहते हैं, उन्हें अपनी क़ौमी सभाओं का प्रधान बनाते हैं, उनकी गाड़ियाँ खींचते हैं, उन पर फूलों की और अशर्फ़ियों

की वर्षा करते हैं, उनके नाम से सड़कें, प्रतिमाएँ और संस्थाएँ बनाते हैं। आजकल दुनिया पैसा देखती है। आजकल ही क्यों? हमेशा से धन की यही महिमा रही है। पैसे कैसे आये, यह कोई नहीं देखता। जो पैसेवाला है, उसी की पूजा होती है। जो अभागे हैं, अयोग्य हैं या भीरु हैं, वे आत्मा और सदाचार की दुहाई देकर अपने आँसू पोंछते हैं। नहीं, आत्मा और सदाचार को कौन पूछता है।'

रूपकुमारी ख़ामोश हो गई। अब उसे यह सत्य उसकी सारी वेदनाओं के साथ स्वीकार करना पड़ेगा कि रामदुलारी उससे ज़्यादा भाग्यवान् है। इससे अब त्राण नहीं। परिहास या अनादर से वह अपनी तंगदिली का प्रमाण देने के सिवा और क्या पायेगी। उसे किसी बहाने से दुलारी के घर जाकर अस्लियत की छान-बीन करनी पड़ेगी। अगर रामदुलारी वास्तव में लक्ष्मी का वरदान पा गई है तो रूपकुमारी अपनी क़िस्मत ठोंककर बैठ रहेगी। समझ लेगी कि दुनिया में कहीं न्याय नहीं है, कहीं ईमानदारी की पूछ नहीं है।

मगर क्या सचमुच उसे इस विचार से सन्तोष होगा? यहाँ कौन ईमानदार है? वही, जिसे बेईमानी करने का अवसर नहीं है और न इतनी बुद्धि या मनोबल है कि वह अवसर पैदा कर ले। उसके पति ७५) पाते हैं, पर क्या दस-बीस रुपए और ऊपर से मिल जायँ तो वह खुश होकर ले न लेंगे? उनकी ईमानदारी और सत्यवादिता उसी समय तक है, जब तक अवसर नहीं मिलता। जिस दिन मौक़ा मिला, सारी सत्यवादिता धरी रह जायगी। और, क्या रूपकुमारी में इतना नैतिक बल है कि वह अपने पति को हराम का माल हज़म करने से रोक दे? रोकना तो दूर की बात है, वह प्रसन्न होगी, शायद पतिदेव की पीठ ठोकेगी। अभी उनके दफ़्तर से आने के समय वह मन मारे बैठी रहती है। तब वह द्वार पर खड़ी होकर उनकी बाट जोहेगी, और ज्यों ही वह घर में आयेंगे, उनकी जेबों की तलाशी लेगी।

आँगन में गाना-बजाना हो रहा था। रामदुलारी उमंग के साथ गा रही थी, और रूपकुमारी वहीं बरामदे में उदास बैठी हुई थी। न-जाने क्यों उसके सिर में दर्द होने लगा था। कोई गाये, कोई नाचे, उससे प्रयोजन नहीं। वह तो अभागिन है। रोने के लिए पैदा की गई है।

नौ बजे रात को मेहमान रुख़सत होने लगे। रूपकुमारी भी उठी। एक्का मँगवाने जा रही थी कि रामदुलारी ने कहा—एक्का मँगवाकर क्या करोगी बहन, मुझे लेने के लिए कार आती होगी, चलो दो-चार दिन मेरे यहाँ रहो, फिर चली जाना। मैं जीजाजी को कहला भेजूँगी, तुम्हारा इन्तज़ार न करें।

रूपकुमारी का यह अंतिम अस्त्र भी बेकार हो गया। रामदुलारी के घर जाकर हाल-चाल की टोह लेने की इच्छा ग़ायब हो गई। वह अब अपने घर जायगी और मुँह ढाँपकर पड़ रहेगी। इन फटे हालों क्यों किसी के घर जाय। बोली—नहीं, अभी तो मुझे फ़ुरसत नहीं है। बच्चे घबरा रहे होंगे। फिर कभी आऊँगी।

'क्या रात भर भी न ठहरोगी?'

'नहीं।'

'अच्छा बताओ कब आओगी। मैं सवारी भेज दूँगी।'

'मैं खुद कहला भेजूँगी।'

'तुम्हें याद न रहेगी। साल भर हो गया, भूलकर भी याद न किया। मैं इसी इंतज़ार में थी कि दीदी बुलायें तो चलूँ। एक ही शहर में रहते हैं, फिर भी इतनी दूर कि साल भर गुज़र जायँ और मुलाक़ात तक न हो।'

रूपकुमारी इसके सिवा और क्या कहे कि घर के कामों से छुट्टी ही नहीं मिलती। कई बार उसने इरादा किया कि दुलारी को बुलाये, मगर अवसर ही न मिला।

सहसा रामदुलारी के पति मि० गुरुसेवक ने आकर बड़ी साली को सलाम किया। बिलकुल अँगरेज़ी सजधज, मुँह में चुरट, क़लाई पर सोने की घड़ी, आँखों पर सुनहरी ऐनक, जैसे कोई सिविलियन हो। चेहरे से जेहानत और शराफ़त बरस रही थी। वह इतना रूपवान् और सजीला है, रूपकुमारी को अनुमान न था। कपड़े जैसे उसकी देह पर खिल रहे थे।

आर्शीर्वाद देकर बोली—आज यहाँ न आती तो तुमसे मुलाक़ात क्यों होती। गुरुसेवक हँसकर बोला—यह उलटी शिकायत! क्यों न हो। कभी आपने बुलाया और मैं न गया?

'मैं नहीं जानती थी कि तुम अपने को मेहमान समझते हो। वह भी तो तुम्हारा ही घर है।'

रूपकुमारी देख रही थी कि मन में उससे ईर्षा रखते हुए भी वह कितनी वाणी-मधुर, कितनी स्निग्ध, कितनी अनुग्रह-प्रार्थिनी होती जा रही है।

गुरुसेवक ने उदार मन से कहा—हाँ, अब मान गया भाभी साहब, बेशक मेरी ग़लती है। इस दृष्टि से मैंने विचार नहीं किया था। मगर आज तो मेरे घर रहिये।

'नहीं, आज बिलकुल अवकाश नहीं है। फिर कभी आऊँगी। लड़के घबरा रहे होंगे।'

रामदुलारी बोली—मैं कितना कहके हार गई, मानती ही नहीं।

दोनो बहनें कार की पीछली सीट पर बैठीं। गुरुसेवक ड्राइव करता हुआ चला। ज़रा देर में उसका मकान आ गया। रामदुलारी ने फिर बहन से उतरने के लिए आग्रह किया। पर वह न मानी। लड़के घबरा रहे होंगे। आख़िर रामदुलारी उससे गले मिलकर अन्दर चली गई। गुरुसेवक ने कार बढ़ाई। रूपकुमारी ने उड़ती हुई निगाह से रामदुलारी

का मकान देखा और वह ठोस सत्य एक शलाका की भाँति उसके कलेजे में चुभ गया।

कुछ दूर चलकर गुरुसेवक बोला—भाभी, मैंने तो अपने लिए अच्छा रास्ता निकाल लिया। अगर दो-चार साल इसी तरह काम चलता रहा तो आदमी बन जाऊँगा।

रूपकुमारी ने सहानुभूति के साथ कहा – रामदुलारी ने मुझसे बताया था। भगवान् करे, जहाँ रहो, खुश रहो। मगर ज़रा हाथ-पैर सँभालके रहना।

'मैं मालिक की आँख बचाकर एक पैसा भी लेना पाप समझता हूँ, बहन! दौलत का मज़ा तो तभी है कि ईमान सलामत रहे। ईमान खोकर पैसे मिले तो क्या। मैं ऐसी दौलत को त्याज्य समझता हूँ, और, आँख किसकी बचाऊँ? सब सियाह-सुफ़ेद तो मेरे हाथ में है। मालिक तो रहा नहीं, केवल उसकी बेवा है। उसने सब कुछ मेरे हाथ में छोड़ रखा है। मैंने उसका कारोबार न सँभाल लिया होता तो सब कुछ चौपट हो जाता। मेरे सामने तो मालिक सिर्फ़ तीन महीने ज़िन्दा रहे; मगर आदमी को परखना ख़ूब जानते थे। मुझे १००) पर रखा और एक ही महीने में २५०) कर दिये। आप लोगों की दुआ से पहले ही महीने में मैंने बारह हज़ार का काम किया।'

'काम क्या करना पड़ता है?' रूपकुमारी ने बिना किसी उद्देश्य के पूछा।

'यही मशीनों की एजेंटी, तरह-तरह की मशीनें मँगाना और बेचना।'—ठण्डा जवाब था।

रूपकुमारी का मनहूस घर आ गया। द्वार पर एक लालटेन टिमटिमा रही थी। उसके पति उमानाथ द्वार पर टहल रहे थे। मगर रूपकुमारी ने गुरुसेवक से उतरने के लिए आग्रह नहीं किया। एक बार

शिष्टाचार के नाते कहा ज़रूर, पर ज़ोर नहीं दिया, और उमानाथ तो गुरुसेवक से मुख़ातिब भी न हुए।

रूपकुमारी को वह घर अब क़ब्रस्तान-सा लग रहा था, जैसे फूटा हुआ भाग्य हो। न कहीं फ़र्श, न फ़रनीचर, न गमले। दो-चार टूटी-टाटी तिपाइयाँ, एक लँगड़ी मेज़, चार-पाँच पुरानी-धुरानी खाटें, यही उस घर की बिसात थी। आज सुबह तक रूपकुमारी इसी घर में खुश थी, लेकिन अब यह घर उसे काटे खा रहा है। लड़के अम्माँ-अम्माँ करके दौड़े, मगर उसने दोनो को झिड़क दिया। उसके सिर में दर्द है, वह किसी से न बोलेगी, कोई उसे न छेड़े! अभी घर में खाना नहीं पका। पकाता कौन? लड़कों ने तो दूध पी लिया है; किन्तु उमानाथ ने कुछ नहीं खाया। इसी इन्तज़ार में थे कि रूपकुमारी आये तो पकाये। पर रूपकुमारी के सिर में दर्द है। मज़बूर होकर बाज़ार से पूरियाँ लानी पड़ेंगी।

रूपकुमारी ने तिरस्कार के स्वर में कहा—तुम अब तक मेरा इन्तज़ार क्यों करते रहे? मैंने तो खाना पकाने की नौकरी नहीं लिखाई है, और जो मैं रात को वहीं रह जाती? आख़िर तुम कोई महराजिन क्यों नहीं रख लेते? क्या ज़िन्दगी भर मुझी को पीसते रहोगे?

उमानाथ ने उसकी तरफ़ आहत विस्मय की आँखों से देखा। उसके बिगड़ उठने का कोई कारण उनकी समझ में न आया। रूपकुमारी से उन्होंने हमेशा निरापद सहयोग पाया है, निरापद ही नहीं, सहानुभूति-पूर्ण भी। उन्होंने कई बार उससे महराजिन रख लेने का प्रस्ताव ख़ुद किया था, पर उसने बराबर यही जवाब दिया कि आख़िर मैं बैठे-बैठे क्या करूँगी? चार-पाँच रुपए का ख़र्च बढ़ाने से क्या फ़ायदा? यही पैसे तो बच्चों के मक्खन में ख़र्च होते हैं।

और आज वह इतनी निर्ममता से उलाहना दे रही है, जैसे ग़ुस्से में भरी हो।

अपनी सफ़ाई देते हुए बोले—महराजिन रखने के लिए तो मैंने ख़ुद तुमसे कई बार कहा।

तो लाकर रख क्यों न दिया ? मैं उसे निकाल देती तो कहते !

'हाँ, यह ग़लती हुई।'

'तुमने कभी सच्चे दिल से नहीं कहा', रूपकुमारी ने और भी प्रचण्ड होकर कहा—तुमने केवल मेरा मन लेने के लिए कहा। मैं ऐसी भोली नहीं हूँ कि तुम्हारे मन का रहस्य न समझूँ। तुम्हारे दिल में कभी मेरे आराम का विचार आया ही नहीं। तुम तो ख़ुश थे कि अच्छी लौंडी मिल गई है। एक रोटी खाती है और चुपचाप पड़ी रहती है। महज़ खाने और कपड़े पर। वह भी जब घर भर की ज़रूरतों से बचे। पचहत्तर रुपल्लियाँ लाकर मेरे हाथ पर रख देते हो और सारी दुनिया का ख़र्च। मेरा दिल ही जानता है, मुझे कितनी कतर-ब्योंत करनी पड़ती है। क्या पहनूँ और क्या ओढ़ूँ ! तुम्हारे साथ ज़िंदगी ख़राब हो गई। संसार में ऐसे मर्द भी हैं, जो स्त्री के लिए आसमान के तारे तोड़ लाते हैं। गुरुसेवक ही को देखो, दूर क्यों जाओ। तुमसे कम पढ़ा है, उम्र में तुमसे कहीं कम है, मगर पाँच सौ का महीना लाता है, और रामदुलारी रानी बनी बैठी रहती है। तुम्हारे लिए यही ७५) बहुत हैं। राँड़ माँड़ ही में मगन ! तुम नाहक़ मर्द हुए, तुम्हें तो औरत होना चाहिये था। औरतों के दिल में कैसे-कैसे अरमान होते हैं। मगर मैं तो तुम्हारे लिए घर की मुर्ग़ी का बासी साग हूँ। तुम्हें तो कोई तकलीफ़ होती नहीं। तुम्हें तो कपड़े भी अच्छे चाहिये, खाना भी अच्छा चाहिये, क्योंकि तुम पुरुष हो, बाहर से कमाकर लाते हो। मैं चाहे जैसे रहूँ, तुम्हारी बला से।'

वाग्बाणों का यह सिलसिला कई मिनट तक जारी रहा, और उमानाथ चुपचाप सुनते रहे। अपनी जान में उन्होंने रूपकुमारी को शिकायत का कभी मौक़ा नहीं दिया। उनका वेतन कम है, यह सत्य

है, पर यह उनके बस की बात तो नहीं। वह दिल लगाकर अपना काम करते हैं, अफ़सरों को ख़ुश रखने की सदैव चेष्टा करते हैं। इस साल बड़े बाबू के छोटे सुपुत्र को छः महीने तक बिला नाग़ा पढ़ाया। इसी लिए तो कि वह प्रसन्न रहे। अब वह और क्या करें। रूपकुमारी की ख़फ़गी का रहस्य वह समझ गये। अगर गुरुसेवक वास्तव में पाँच सौ रुपए लाता है तो बेशक वह भाग्य का बली है लेकिन दूसरों की ऊँची पेशानी देखकर अपना माथा तो नहीं फोड़ा जाता। किसी संयोग से उसे यह अवसर मिल गया। मगर हर एक को तो ऐसे अवसर नहीं मिलते। वह इसका पता लगायेंगे कि सचमुच उसे पाँच सौ मिलते हैं, या महज़ डींग है। और मान लिया कि पाँच सौ ही मिलते हैं, तो क्या इससे रूपकुमारी को यह हक़ है कि वह उनको ताने दे, और उन्हें जली-कटी सुनाये। अगर इसी तरह वह भी रूपकुमारी से ज़्यादा रूपवती और सुशीला रमणी को देखकर रूपकुमारी को कोसना शुरू करें तो कैसा हो! रूपकुमारी सुन्दरी है, मृदुभाषिणी है, त्यागमयी है, लेकिन उससे बढ़कर सुन्दरी, मृदुभाषिणी, त्यागमयी देवियों से दुनिया ख़ाली नहीं है। तो क्या इसी कारण वह रूपकुमारी का अनादर करें?

एक समय था, जब उनकी नज़रों में रूपकुमारी से ज़्यादा रूपवती रमणी संसार में न थी; लेकिन वह उन्माद कब का शांत हो गया। भावुकता के संसार से वास्तविक जीवन में आये उन्हें एक युग बीत गया। अब तो विवाहित जीवन का उन्हें काफ़ी अनुभव हो गया है। एक को दूसरे के गुण-दोष मालूम हो गये हैं। अब तो संतोष में ही उनका जीवन सुखी रह सकता है। मगर रूपकुमारी समझदार होकर भी इतनी मोटी-सी बात नहीं समझती!

फिर भी उन्हें रूपकुमारी से सहानुभूति ही हुई। वह उदार प्रकृति के आदमी थे और कल्पनाशील भी। उसकी कटु बातों का कुछ जवाब न दिया। शर्बत की तरह पी गये। अपनी बहन के ठाट देखकर एक

क्षण के लिए रूपकुमारी के मन में ऐसे निराशाजनक, अन्यायपूर्ण, दुःखद भावों का उठना बिलकुल स्वाभाविक है। रूपकुमारी कोई संन्यासिनी नहीं, विरागिनी नहीं कि हरएक दशा में अविचलित रहे।

इस तरह अपने मन को समझाकर उमानाथ ने गुरुसेवक के विषय में तहक़ीक़ात करने का संकल्प किया।

(२)

एक सप्ताह तक रूपकुमारी मानसिक अशांति की दशा में रही। बात-बात पर झुँझलाती, लड़कों को डाँटती, पति को कोसती, अपने नसीबों को रोती। घर का काम तो करना ही पड़ता था, लेकिन अब इस काम में उसे आनन्द न आता था। बेगार-सी टालती थी। घर की जिन पुरानी-धुरानी चीज़ों से उसका आत्मीय संबंध-सा हो गया था, जिनकी सफ़ाई और सजावट में वह व्यस्त रहा करती थी, उनकी तरफ़ अब आँख उठाकर भी न देखती। घर में एक ही ख़िदमतगार था। उसने जब देखा, बहूजी घर की तरफ़ से ख़ुद ही लापरवाह हैं तो उसे क्या ग़रज़ थी कि सफ़ाई करता। जो चीज़ जहाँ पड़ी थी, वहीं पड़ी रहती। कौन उठाकर ठिकाने से रखे। बच्चे मा से बोलते डरते थे, और उमानाथ तो उसके साये से भागते थे। जो कुछ सामने थाली में आ जाता उसे पेट में डाल लेते और दफ़्तर चले जाते। दफ़्तर से लौटकर दोनो बच्चों को साथ ले लेते और कहीं घूमने निकल जाते। रूपकुमारी से कुछ कहना बारूद में दियासलाई लगाना था। हाँ, उनकी वह तहक़ीक़ात जारी थी।

एक दिन उमानाथ दफ़्तर से लौटे तो उनके साथ गुरुसेवक भी थे! रूपकुमारी ने आज कई दिन के बाद परिस्थिति से सहयोग कर लिया था और इस वक़्त झाड़न लिये कुरसियाँ और तिपाइयाँ साफ़ कर रही थी कि गुरुसेवक ने अंदर पहुँचकर सलाम किया। रूपकुमारी दिल में कट गई। उमानाथ पर ऐसा क्रोध आया कि उनका मुँह नोच

ले। इन्हें लाकर यहाँ क्यों खड़ा कर दिया ? न कहना, न सुनना, बस बुला लाये। उसे इस दशा में देखकर गुरुसेवक दिल में क्या कहता होगा। मगर इन्हें अक़्ल आई ही कब थी। वह अपना परदा ढाँकती फिरती है और आप उसे खोलते फिरते हैं। ज़रा भी लज्जा नहीं। जैसे बेहयाई का बाना पहन लिया है। बरबस उसका अपमान करते हैं। न-जाने उसने उनका क्या बिगाड़ा है।

आशीर्वाद देकर कुशल-समाचार पूछा और कुरसी रख दी। गुरुसेवक ने बैठते हुए कहा—आज भाई साहब ने मेरी दावत की है ; मैं उनकी दावत पर तो न आता, लेकिन जब उन्होंने कहा, तुम्हारी भाभी का कड़ा तक़ाज़ा है, तब मुझे समय निकालना पड़ा।

रूपकुमारी ने बात बनाई। घर का कलह छिपाना पड़ा—तुमसे उस दिन कुछ बातचीत न हो पाई। जी लगा हुआ था।

गुरुसेवक ने कमरे के चारों तरफ़ नज़र दौड़ाकर कहा—इस पिंजड़े में तो आप लोगों को बड़ी तकलीफ़ होती होगी।

रूपकुमारी को ज्ञात हुआ, यह युवक कितना सुरुचिहीन, कितना अरसिक है। दूसरों के मनोभावों का आदर करना जैसे जानता ही नहीं। इसे इतनी-सी बात भी नहीं मालूम कि दुनिया में सभी भाग्यशाली नहीं होते! लाखों में एक ही कहीं ऐसा भाग्यवान् निकलता है। और उसे भाग्यवान् ही क्यों कहा जाय ? जहाँ बहुतों को दाना न मयस्सर हो, वहाँ थोड़े-से आदमियों के भोग-विलास में कौन-सा सौभाग्य ! जहाँ बहुत-से आदमी भूखों मर रहे हों, वहाँ दो-चार आदमी मोहनभोग उड़ायें तो यह उनकी बेहयाई और हृदयहीनता है, सौभाग्य कभी नहीं।

कुछ चिढ़कर बोली—पिंजड़े में कठघरे में रहने से अच्छा है। पिंजड़े में निरीह पक्षी रहते हैं, कठघरा तो घातक जन्तुओं का ही निवासस्थान है।

गुरुसेवक शायद यह संकेत न समझ सका, बोला—मेरा तो इस घर में दम घुट जाय। मैं आपके लिए अपने घर के पास ही एक मकान ठीक कर दूँगा। ख़ूब लम्बा-चौड़ा। आपसे कुछ किराया न लिया जायगा। मकान हमारी मालकिन का है। मैं भी उसी के एक मकान में रहता हूँ। सैकड़ों मकान हैं उसके पास, सैकड़ों। सब मेरे अख्तियार में हैं। जिसे जो मकान चाहूँ दे दूँ। मेरे अख्तियार में है किराया लूँ या न लूँ। मैं आपके लिए सबसे अच्छा मकान ठीक करूँगा। मैं आपका बहुत अदब करता हूँ।

रूपकुमारी समझ गई, महाशय इस वक्त नशे में हैं। जभी यों बहक रहे हैं। अब उसने ग़ौर से देखा तो उनकी आँखें सिकुड़ गई थीं, गाल कुछ फूल गये थे। ज़बान भी लड़खड़ाने लगी थी। एक जवान ख़ूबसूरत, शरीफ़ चेहरा कुछ ऐसा शेखीबाज़ और निर्लज्ज हो गया कि उसे देखकर घृणा होती थी।

उसने एक क्षण के बाद फिर बहकना शुरू किया—मैं आपका बहुत अदब करता हूँ, जी हाँ। आप मेरी बड़ी भाभी हैं। आपके लिए मेरी जान हाज़िर है। आपके लिए एक मकान नहीं, सौ मकान तैयार हैं। मैं मिसेज़ लोहिया का मुख़्तार हूँ। सब कुछ मेरे हाथ में है। सब कुछ। मैं जो कुछ कहता हूँ, वह आँखें बन्द करके मंज़ूर कर लेती है। मुझे अपना बेटा समझती है। मैं उसकी सारी जायदाद का मालिक हूँ। मि० लोहिया ने मुझे २०) पर रखा था, २०) पर। वह बड़ा मालदार था। मगर किसी को नहीं मालूम, उसकी दौलत कहाँ से आती थी। किसी को नहीं मालूम। मेरे सिवा कोई नहीं जानता। वह ख़ुफ़ियाफ़रोश था। किसी से कहना नहीं। वह चोरी से कोकीन बेचता था। लाखों की आमदनी थी उसकी। अब वही व्यापार मैं करता हूँ। हर शहर में हमारे ख़ुफ़िया एजेण्ट हैं। मि० लोहिया ने मुझे इस फन में उस्ताद बना दिया। जी हाँ। मजाल नहीं कि कोई मुझे गिरफ़्तार

कहानियों की सूची

नारीजीवन

की

कहानियाँ

बेटोंवाली विधवा

पण्डित अयोध्यानाथ का देहान्त हुआ तो सबने कहा, ईश्वर आदमी को ऐसी ही मौत दे। चार जवान बेटे थे, एक लड़की। चारों लड़कों के विवाह हो चुके थे, केवल लड़की क्वाँरी थी। सम्पत्ति भी काफ़ी छोड़ी। एक पक्का मकान, दो बग़ीचे, कई हज़ार के गहने और बीस हज़ार नक़द। विधवा फूलमती को शोक तो हुआ और कई दिन तक वह बेहाल रही; लेकिन जवान बेटों को सामने देखकर उसे ढाढ़स हुआ। चारों लड़के एक-से-एक सुशील, चारों बहुएँ एक-से-एक बढ़कर आज्ञाकारिणी। जब वह रात को लेटती, तो चारों बारी-बारी से उसके पाँव दबातीं, वह स्नान करके उठती, तो उसकी साड़ी छाँटतीं। सारा घर उसके इशारे पर चलता था। बड़ा लड़का कामता एक दफ़्तर में ५०) पर नौकर था, छोटा उमानाथ डॉक्टरी पास कर चुका था, और कहीं औषधालय खोलने की फ़िक्र में था, तीसरा दयानाथ बी० ए० में फ़ेल हो गया था और पत्रिकाओं में लेख लिखकर कुछ-न-कुछ कमा लेता था, चौथा सीतानाथ चारों में सबसे कुशाग्र और होनहार था और अब-

की साल बी० ए० प्रथम श्रेणी में पास करके एम० ए० की तैयारी में लगा हुआ था। किसी लड़के में वह दुर्व्यसन, वह छैलापन, वह लुटाऊ-पन न था, जो माता-पिता को जलाता और कुल-मर्यादा को डुबाता है। फूलमती घर की मालकिन थी। गोकि कुञ्जियाँ बड़ी बहू के पास रहती थीं—बुढ़िया में वह अधिकार-प्रेम न था, जो वृद्धजनों को कटु और कलहशील बना दिया करता है; किन्तु उसकी इच्छा के बिना कोई बालक मिठाई तक न मँगा सकता था।

सन्ध्या हो गई थी। पण्डितजी को मरे आज बारहवाँ दिन था। कल तेरही है। ब्रह्मभोज होगा। बिरादरी के लोग निमन्त्रित होंगे। उसी की तैयारियाँ हो रही थीं। फूलमती अपनी कोठरी में बैठी देख रही थी, कि पल्लेदार बोरों में आटा लाकर रख रहे हैं। घी के टिन आ रहे हैं। शाक-भाजी के टोकरे, शक्कर की बोरियाँ, दही के मटके चले आ रहे हैं। महापात्र के लिए दान की चीज़ें लाई गईं—बर्तन, कपड़े, पलङ्ग, बिछावन, छाते, जूते, छड़ियाँ, लालटेनें आदि; किन्तु फूलमती को कोई चीज़ नहीं दिखाई गई। नियमानुसार ये सब सामान उसके पास आने चाहिये थे। वह प्रत्येक वस्तु को देखती, उसे पसन्द करती, उसकी मात्रा में कमी-बेशी का फैसला करती; तब इन चीज़ों को भण्डारे में रखा जाता। क्यों उसे दिखाने और उसकी राय लेने की ज़रूरत नहीं समझी गई? अच्छा! यह आटा तीन ही बोरा क्यों आया? उसने तो पाँच बोरों के लिए कहा था। घी के भी पाँच ही कनस्तर हैं। उसने तो दस कनस्तर मँगवाये थे? इसी तरह शाक-भाजी, शक्कर, दही आदि में भी कमी की गई होगी। किसने उसके हुक्म में हस्तक्षेप किया? जब उसने एक बात तय कर दी, तब किसे उसको घटाने-बढ़ाने का अधिकार है?

आज चालीस वर्षों से घर के प्रत्येक मामले में फूलमती की बात सर्वमान्य थी। उसने सौ कहा तो सौ ख़र्च किये गये, एक कहा तो

कर ले। बड़े-बड़े अफसरों से मेरा याराना है। उनके मुँह में नोटों के पुलिन्दे ठूँस-ठूँसकर उनकी आवाज़ बन्द कर देता हूँ। कोई चूँ नहीं कर सकता। दिन दहाड़े बेचता हूँ। हिसाब में लिखता हूँ, एक हज़ार रिश्वत दी। देता हूँ पाँच सौ। बाक़ी यारों का है। बेदरेग़ रुपए आते हैं और बेदरेग़ ख़र्च करता हूँ। बुढ़िया को तो रामनाम से मतलब है। सत्तर चूहे खाके अब वह हज करने चली है। कोई मेरा हाथ पकड़नेवाला नहीं, कोई बोलनेवाला नहीं, (जेब से नोटों का एक बण्डल निकालकर) यह आपके चरणों की भेंट है। मुझे दुआ दीजिये कि इसी शान से ज़िंदगी कट जाय। जो आत्मा और सदाचर के उपासक हैं, उन्हें कुबेर लातें मारता है। लक्ष्मी उनको पकड़ती है, जो उसके लिए अपना दीन और ईमान सब कुछ छोड़ने को तैयार हैं। मुझे बुरा न कहिये। मैं कौन मालदार हूँ। जितने धनी हैं, वे सब-के-सब लुटेरे हैं। पक्के लुटेरे, डाकू। कल मेरे पास रुपए हो जायँ और मैं एक धर्मशाला बनवा दूँ। फिर देखिये मेरी कितनी वाह-वाह होती है। कौन पूछता है, मुझे दौलत कहाँ से मिली। जिस महात्मा को कहिये, बुलाकर उससे अपनी प्रशंसा करवा लूँ। मि० लोहिया को महात्माओं ने धर्म-भूषण की उपाधि दी थी। इन स्वार्थी, पेट के बन्दों ने। उस बुड्ढे को जिससे बड़ा कुकर्मी संसार में न होगा। यहाँ तो लूट है। एक वकील आध घण्टा बहस करके पाँच सौ मार लेता है, एक डाक्टर ज़रा-सा नश्तर लगाकर एक हज़ार सीधा कर लेता है, एक जुआरी स्पेकुलेशन में एक-एक दिन में, लाखों का वारा-न्यारा करता है अगर उनकी आमदनी जायज़ है, तो मेरी आमदनी भी जायज़ है। जी हाँ, जायज़ है। मेरी निगाह में बड़े-से-बड़े मालदार की भी कोई इज़्ज़त नहीं। मैं जानता हूँ, वह कितना बड़ा हथकण्डेबाज़ है। यहाँ जो आदमी आँखों में धूल झोंक सके, वही सफल है। ग़रीबों को लूटकर मालदार हो जाना समाज की पुरानी परिपाटी है। मैं भी वही करता हूँ, जो दूसरे करते

हैं। जीवन का उद्देश्य है, ऐश करना। मैं भी ख़ूब लूटूँगा, ख़ूब ऐश करूँगा और बुढ़ापे में ख़ूब ख़ैरात करूँगा। और एक दिन लीडर बन जाऊँगा। कहिये गिना दूँ, यहाँ कितने लोग जुआ खेल-खेलकर करोड़पती हो गये, कितने औरतों का बाज़ार लगाकर करोड़पती हो गये...

सहसा उमानाथ ने आकर कहा—मि० गुरुसेवक, क्या कर रहे हो? चलो चाय पी लो। ठण्डी हो रही है।

गुरुसेवक ऐसा हड़बड़ाकर उठा मानो अपने सचेत रहने का प्रमाण देना चाहता हो। मगर पाँव लड़खड़ाये और ज़मीन पर गिर पड़ा। फिर सँभलकर उठा और झूमता-झूमता ठोकरें खाता, बाहर चला गया। रूपकुमारी ने आज़ादी की साँस ली। यहाँ बैठे-बैठे उसे हौल-दिल-सा हो रहा था। कमरे की हवा जैसे कुछ भारी हो गई थी। जो प्रेरणाएँ कई दिन से अच्छे-अच्छे मनोहर रूप भरकर उसके मन में आ रही थीं, आज उसे उनका असली, वीभत्स, घिनावना रूप नज़र आया। जिस त्याग, सादगी और साधुता के वातावरण में अब तक उसकी ज़िन्दगी गुज़री थी, उसमें इस तरह के दाव-पेंच, छल-कपट और पतित स्वार्थ का घुसना बिल्कुल ऐसा ही था, जैसे किसी बाग़ में साँड़ों का एक झुण्ड घुस आये, इन दामों वह दुनिया की सारी दौलत और सारा ऐश ख़रीदने को भी तैयार न हो सकती थी। नहीं, अब रामदुलारी के भाग्य से अपने भाग्य का बदला न करेगी। वह अपने हाल में खुश है। रामदुलारी पर उसे दया आई, जो भोग-विलास की धुन और अमीर कहलाने के मोह में अपनी आत्मा का सर्वनाश कर रही है। मगर वह बेचारी भी क्या करे? और गुरुसेवक का भी क्या दोष है? जिस समाज में दौलत पुजती है, जहाँ मनुष्य का मोल उसके बैंक-एकाउण्ट और टीमटाम से आँका जाता है, जहाँ पग-पग पर प्रलोभनों का जाल बिछा हुआ है और समाज की कुव्यवस्था आदमी में ईर्षा-द्वेष,

अपहरण और नीचता के भावों को उकसाती और उभारती रहती है, गुरुसेवक और रामदुलारी उस जाल में फँस जायँ, उस प्रवाह में बह जायँ तो कोई अचरज नहीं।

उसी वक़्त उमानाथ ने आकर कहा—गुरुसेवक यहाँ बैठा-बैठा क्या बहक रहा था ? मैंने तो उसे बिदा कर दिया। जी डरता था, कहीं पुलीस उसके पीछे न लगी हो। नहीं तो मैं भी गेहूँ के साथ घुन की तरह पिस जाऊँ।

रूपकुमारी ने क्षमा-प्रार्थी नेत्रों से उन्हें देखकर जवाब दिया—वही अपनी ख़ुफ़ियाफ़रोशी की डींग मार रहा था।

'मुझे भी मिसेज़ लोहिया से मिलने को कह गया है।'

'जी नहीं, आप अपनी क्लर्की किये जाइये। इसी में हमारा कल्याण है।'

'मगर क्लर्की में वह ऐश कहाँ ? क्यों न साल भर की छुट्टी लेकर ज़रा उस दुनिया की भी सैर करूँ ?'

'मुझे अब उस ऐश का मोह नहीं रहा।'

'दिल से कहती हो ?'

'सच्चे दिल से।'

उमानाथ एक मिनट तक चुप रहने के बाद फिर बोले—मैं आकर तुमसे यह वृत्तान्त कहता तो तुम्हें विश्वास आता या नहीं, सच कहना ?

'कभी नहीं। मैं तो कल्पना ही नहीं कर सकती कि अपने स्वार्थ के लिए कोई आदमी दुनिया को विष खिला सकता है।'

'मुझे सारा हाल पुलीस के सब-इंस्पेक्टर से मालूम हो गया था। मैंने उसे खूब शराब पिला दी थी कि नशे में बहकेगा ज़रूर और सब-कुछ ख़ुद उगल देगा।'

'ललचाता तो तुम्हारा जी भी था।'

'हाँ, ललचाता तो था, और अब भी ललचा रहा है। मगर ऐश

करने के लिए जिस हुनर की ज़रूरत है, वह कहाँ से लाऊँगा ?'

'ईश्वर न करे, वह हुनर तुममें आवे। मुझे तो उस बेचारे पर तरस आता है। मालूम नहीं, ख़ैरियत से घर पहुँच गया या नहीं।'

'उसकी कार थी। कोई चिन्ता नहीं।'

रूपकुमारी एक क्षण ज़मीन की तरफ़ ताकती रही। फिर बोली—तुम मुझे दुलारी के घर पहुँचा दो। अभी, शायद मैं उसकी कुछ मदद कर सकूँ। जिस बाग़ की वह सैर कर रही है उसके चारों तरफ़ निशाचर घात लगाये बैठे हैं। शायद मैं उसे बचा सकूँ।

उमानाथ ने देखा, उसकी छवि कितनी दयापुलकित हो उठी है।

शांति

जब मैं ससुराल आई, तो बिलकुल फूहड़ थी। न पहनने-ओढ़ने का सलीक़ा, न बातचीत करने का ढंग। सिर उठाकर किसी से बातचीत न कर सकती थी। आँखें अपने आप झपक जाती थीं। किसी के सामने जाते शर्म आती, स्त्रियों तक के सामने बिना घूँघट के झिझक होती थी। मैं कुछ हिन्दी पढ़ी हुई थी; पर उपन्यास, नाटक आदि के पढ़ने में आनन्द न आता था। फ़ुर्सत मिलने पर रामायण पढ़ती। उसमें मेरा मन बहुत लगता था। मैं उसे मनुष्य-कृत नहीं समझती थी। मुझे पूरा-पूरा विश्वास था, उसे किसी देवता ने स्वयं रचा होगा। मैं मनुष्यों को इतना बुद्धिमान और सहृदय नहीं समझती थी। मैं दिन भर घर का कोई न कोई काम करती रहती। और कोई काम न रहता, तो चर्खे पर सूत कातती। अपनी बूढ़ी सास से थरथर काँपती थी। एक दिन दाल में नमक अधिक हो गया। ससुरजी ने भोजन के समय सिर्फ़ इतना ही कहा—नमक ज़रा अंदाज़ से डाला करो। इतना सुनते ही हृदय काँपने लगा। मानो मुझे इससे अधिक कोई वेदना नहीं पहुँचाई जा सकती थी।

लेकिन मेरा यह फूहड़पन मेरे बाबूजी (पतिदेव) को पसंद न आता था। वह वकील थे। उन्होंने शिक्षा की ऊँची से ऊँची डिगरियाँ पाई थीं। वह मुझ पर प्रेम अवश्य करते थे ; पर उस प्रेम में दया की मात्रा अधिक होती थी। स्त्रियों के रहन-सहन और शिक्षा के संबंध में उनके विचार बहुत ही उदार थे। वह मुझे उन विचारों से बहुत नीचे देखकर कदाचित् मन ही मन खिन्न होते थे ; परंतु उसमें मेरा कोई अपराध न देखकर हमारे रस्म-रवाज पर झुँझलाते थे। उन्हें मेरे साथ बैठकर बातचीत करने में ज़रा भी आनन्द न आता। सोने आते, तो कोई न कोई अँगरेज़ी पुस्तक साथ लाते, और नींद न आने तक पढ़ा करते। जो कभी मैं पूछ बैठती, कि क्या पढ़ते हो, तो मेरी ओर करुण-दृष्टि से देखकर उत्तर देते—तुम्हें क्या बतलाऊँ, यह 'आसकर वाइल्ड' की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मैं अपनी अयोग्यता पर बहुत लज्जित थी। अपने को धिक्कारती, मैं ऐसे विद्वान् पुरुष के योग्य नहीं हूँ। मुझे तो किसी उजड्ड के घर पड़ना था। बाबूजी मुझे निरादर की दृष्टि से नहीं देखते थे, यही मेरे लिए सौभाग्य की बात थी।

एक दिन संध्या समय मैं रामायण पढ़ रही थी। भरतजी रामचन्द्रजी की खोज में निकले थे। उनका करुण विलाप पढ़कर मेरा हृदय गद्गद् हो रहा था। नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। हृदय उमड़ा आता था। सहसा बाबूजी कमरे में आये। मैंने पुस्तक तुरन्त बन्द कर दी। उनके सामने मैं अपने फूहड़पन को भरसक प्रकट न होने देती थी ; लेकिन उन्होंने पुस्तक देख ली, और पूछा—रामायण है न ?

मैंने अपराधियों की भाँति सिर झुकाकर कहा—हाँ, ज़रा देख रही थी।

बाबूजी—इसमें शक नहीं, कि पुस्तक बहुत ही अच्छी, भावों से भरी हुई है ; लेकिन इसमें मानव-चरित्र को वैसी ख़ूबी से नहीं दिखाया गया, जैसा अँगरेज़ या फ्रांसीसी लेखक दिखलाते हैं। तुम्हारी समझ

में तो न आयेगा लेकिन कहने में क्या हरज है, योरप में आजकल 'स्वाभाविकता' (Realism) का ज़माना है। वे लोग मनोभावों के उत्थान और पतन का ऐसा वास्तविक वर्णन करते हैं, कि पढ़कर आश्चर्य होता है। हमारे यहाँ कवियों को पग-पग पर धर्म तथा नीति का ध्यान रखना पड़ता है, इसलिए कभी-कभी उनके भावों में अस्वाभाविकता आ जाती है; और यही त्रुटि तुलसीदास में भी है।

मेरी समझ में उस समय कुछ भी न आया। बोली—मेरे लिए तो यही बहुत है, अँगरेज़ी पुस्तकें कैसे समझूँ।

बाबूजी—कोई कठिन बात नहीं। एक घण्टे भी रोज़ पढ़ो, तो थोड़े ही समय में काफ़ी योग्यता प्राप्त कर सकती हो; पर तुमने तो मानो मेरी बातें न मानने की सौगन्ध ही खा ली है। कितना समझाया कि मुझसे शर्म करने की आवश्यकता नहीं; पर तुम्हारे ऊपर कुछ असर न पड़ा। कितना कहता हूँ, कि ज़रा सफाई से रहा करो; परमात्मा सुन्दरता देता है, तो चाहता है, कि उसका शृङ्गार भी होता रहे; लेकिन जान पड़ता है, तुम्हारी दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य नहीं। या शायद तुम समझती हो कि मेरे-जैसे कुरूप मनुष्य के लिए तुम चाहे जैसे भी रहो, आवश्यकता से अधिक अच्छी हो। यह अत्याचार मेरे ऊपर है। तुम मुझे ठोंक-पीटकर वैराग्य सिखाना चाहती हो। जब मैं दिन-रात मेहनत करके कमाता हूँ, तो स्वभावतः मेरी यह इच्छा होती है, कि उस द्रव्य का सबसे उत्तम व्यय हो; परन्तु तुम्हारा फूहड़पन और पुराने विचार मेरे सारे परिश्रम पर पानी फेर देते हैं। स्त्रियाँ केवल भोजन बनाने, बच्चे पालने, पति की सेवा करने और एकादशी का व्रत रखने के लिए नहीं हैं, उनके जीवन का लक्ष्य इससे बहुत ऊँचा है। वे मनुष्यों के समस्त सामाजिक और मानसिक विषयों में समान रूप से भाग लेने की अधिकारिणी हैं। उन्हें मनुष्यों की भाँति स्वतंत्र रहने का भी अधिकार प्राप्त है। मुझे तुम्हारी यह बन्दी-दशा देखकर

बड़ा कष्ट होता है। स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी मानी गई है ; लेकिन तुम मेरी मानसिक या सामाजिक, किसी आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकतीं। मेरा और तुम्हारा धर्म अलग, आचार-विचार अलग, आमोद-प्रमोद के विषय अलग। जीवन के किसी कार्य में मुझे तुमसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती। तुम स्वयं विचार सकती हो, कि ऐसी दशा में मेरी ज़िन्दगी कैसी बुरी तरह कट रही है।

बाबूजी का कहना बिलकुल यथार्थ था। मैं उनके गले में एक जंजीर की भाँति पड़ी हुई थी। उस दिन से मैंने उन्हीं के कहे अनुसार चलने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। अपने देवता को किस भाँति अप्रसन्न करती ?

(२)

यह तो कैसे कहूँ, कि मुझे पहनने-ओढ़ने से प्रेम न था। था, और उतना ही था, जितना दूसरी स्त्रियों को होता है। जब बालक और वृद्ध तक शृंगार पसन्द करते हैं, तो मैं तो युवती ठहरी। मन भीतर ही भीतर मचलकर रह जाता था। मेरे मायके में मोटा खाने और मोटा पहनने की चाल थी। मेरी मा और दादी हाथों से सूत कातती थीं, और जुलाहे से उसी सूत के कपड़े बुनवा लिये जाते थे। बाहर से बहुत कम कपड़े आते थे। मैं कभी ज़रा महीन कपड़ा पहनना चाहती या शृंगार की ओर रुचि दिखाती, तो अम्माँ फ़ौरन टोकतीं और समझातीं, कि बहुत बनाव-सँवार भले घर की लड़कियों को शोभा नहीं देता। ऐसी आदत अच्छी नहीं। यदि कभी वह मुझे दर्पण के सामने देख लेतीं, तो झिड़कने लगतीं ; परन्तु अब बाबूजी की ज़िद से मेरी यह झिझक जाती रही। मेरी सास और ननदें मेरे बनाव-शृंगार पर नाक-भौं सिकोड़तीं, पर मुझे अब उनकी परवा न थी। बाबूजी की प्रेम-परिपूर्ण दृष्टि के लिए मैं झिड़कियाँ भी सह सकती थी। अब उनके और मेरे विचारों में समानता आती जाती थी। वह अधिक प्रसन्न-

चित्त जान पड़ते थे। वह मेरे लिए फ़ैशनेबुल साड़ियाँ, सुन्दर जाकटें, चमकते हुए जूते, और कामदार स्लीपरें लाया करते; पर मैं इन वस्तुओं को धारण कर किसी के सामने न निकलती, ये वस्त्र केवल बाबूजी के ही सामने पहनने के लिए रखे थे। मुझे इस प्रकार बनी-ठनी देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। स्त्री अपने पति की प्रसन्नता के लिए क्या नहीं कर सकती? अब घर के काम-काज में मेरा जी न लगता था। मेरा अधिक समय बनाव-शृङ्गार तथा पुस्तकावलोकन में ही बीतने लगा। पुस्तकों से मुझे प्रेम होने लगा था।

यद्यपि अभी तक मैं अपने सास-ससुर का लिहाज़ करती थी, उनके सामने बूट और गाउन पहनकर निकलने का मुझे साहस न होता था; पर मुझे उनकी शिक्षा-पूर्ण बातें न भाती थीं। मैं सोचती, जब मेरा पति सैकड़ों रुपए महीना कमाता है, तो घर में चेरी बनकर क्यों रहूँ? यों अपनी इच्छा से चाहे जितना काम करूँ; पर ये लोग मुझे आज्ञा देनेवाले कौन होते हैं? मुझमें आत्माभिमान की मात्रा बढ़ने लगी। यदि अम्माँ मुझे कोई काम करने को कहतीं, तो मैं अदबदाकर उसे टाल जाती। एक दिन उन्होंने कहा—सवेरे के जलपान के लिए कुछ दालमोट बना लो। मैं बात अनसुनी कर गई। अम्माँ ने कुछ देर तक मेरी राह देखी; पर जब मैं अपने कमरे से न निकली, तो उन्हें गुस्सा हो आया। वह बड़ी ही चिड़चिड़ी प्रकृति की थीं। तनिक-सी बात पर तुनक जाती थीं। उन्हें अपनी प्रतिष्ठा का इतना अभिमान था, कि मुझे बिलकुल लौंडी ही समझती थीं। हाँ, अपनी पुत्रियों से सदैव नम्रता से पेश आतीं; बल्कि मैं तो यह कहूँगी, कि उन्हें सिर चढ़ा रखा था। वह क्रोध में भरी हुई मेरे कमरे के द्वार पर आकर बोलीं—तुमसे मैंने दालमोट बनाने को कहा था, बनाया? मैं कुछ रुष्ट होकर बोली—अभी फ़ुर्सत नहीं मिली।

अम्माँ—तो तुम्हारी जान में दिनभर पड़े रहना ही बड़ा काम

है ? यह आजकल तुम्हें हो क्या गया है ? किस घमंड में हो ? क्या यह सोचती हो, कि मेरा पति कमाता है, तो मैं काम क्यों करूँ ? इस घमण्ड में न भूलना ! तुम्हारा पति लाख कमाये ; लेकिन घर में राज मेरा ही रहेगा । आज वह चार पैसे कमाने लगा है, तो तुम्हें मालकिन बनने की हवस हो रही है ; लेकिन उसे पालने-पोसने तुम नहीं आई थी, मैंने ही उसे पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बनाया है । वाह ! कल की छोकरी और अभी से यह गुमान !

मैं रोने लगी । मुँह से एक बात न निकली । बाबूजी उस समय ऊपर कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे । ये सब बातें उन्होंने सुनीं । उन्हें बड़ा कष्ट हुआ । रात को जब वह घर आये तो बोले—देखा तुमने आज अम्माँ का क्रोध ? यही अत्याचार है, जिससे स्त्रियों को अपनी ज़िन्दगी पहाड़ मालूम होने लगती है । इन बातों से हृदय में कितनी वेदना होती है, इसका जानना असम्भव है । जीवन भार हो जाता है, हृदय जर्जर हो जाता है, और मनुष्य की आत्मोन्नति उसी प्रकार रुक जाती है, जैसे जल, प्रकाश और वायु के बिना पौदे सूख जाते हैं । हमारे घरों में यह बड़ा अन्धेर है । अब मैं तो उनका पुत्र ही ठहरा, उनके सामने मुँह नहीं खोल सकता । मेरे ऊपर उनका बहुत बड़ा अधिकार है ; अतएव उनके विरुद्ध एक शब्द भी कहना मेरे लिए लज्जा की बात होगी, और यही बन्धन तुम्हारे लिए भी है । यदि तुमने उनकी बातें चुपचाप न सुन ली होतीं तो मुझे बहुत ही दुःख होता । कदाचित् मैं विष खा लेता । ऐसी दशा में दो ही बातें सम्भव हैं, या तो सदैव उनकी घुड़कियों-झिड़कियों को सहे जाओ, या अपने लिए कोई दूसरा रास्ता ढूँढो । अब इस बात की आशा करना, कि अम्माँ के स्वभाव में कोई परिवर्तन होगा, यह बिलकुल भ्रम है । बोलो, तुम्हें क्या स्वीकार है ?

मैंने डरते-डरते कहा—आपकी जो आज्ञा हो, वह करूँ । अब

कभी न पढ़ूँ-लिखूँगी, और जो कुछ वह कहेंगी, वही करूँगी। यदि वह इसी में प्रसन्न हैं, तो यही सही—मुझे पढ़-लिखकर क्या करना है ?

बाबूजी—पर यह मैं नहीं चाहता। अम्माँ ने आज आरम्भ किया है। अब रोज बढ़ती ही जायँगी। मैं तुम्हें जितना ही सभ्य तथा विचार-शील बनाने की चेष्टा करूँगा, उतना ही उन्हें बुरा लगेगा, और उनका ग़ुस्सा तुम्हीं पर उतरेगा। उन्हें पता नहीं कि जिस आबहवा में उन्होंने अपनी ज़िन्दगी बिताई है, वह अब नहीं रही। विचार-स्वातन्त्र्य और समयानुकूलता उनकी दृष्टि में अधर्म से कम नहीं। मैंने यह उपाय सोचा है कि किसी दूसरे शहर में चलकर अपना अड्डा जमाऊँ। मेरी वकालत भी यहाँ नहीं चलती ; इसलिए किसी बहाने की भी आवश्यकता न पड़ेगी।

मैं इस तजवीज़ के विरुद्ध कुछ न बोली। यद्यपि मुझे अकेले रहने से भय लगता था, तथापि वहाँ स्वतन्त्र रहने की आशा ने मन को प्रफुल्लित कर दिया।

(३)

उसी दिन से अम्माँ ने मुझसे बोलना छोड़ दिया। महरियों, पड़ोसियों और ननदों के आगे मेरा परिहास किया करतीं। यह मुझे बहुत बुरा मालूम होता था। इसके बदले यदि वह कुछ भली-बुरी बातें कह लेतीं, तो मुझे स्वीकार था। मेरे हृदय से उनकी मान-मर्यादा घटने लगी। किसी मनुष्य पर इस प्रकार कटाक्ष करना उसके हृदय से अपने आदर को मिटाने के समान है। मेरे ऊपर सबसे गुरुतर दोषारोपण यह था, कि मैंने बाबूजी पर कोई मोहन-मंत्र फूँक दिया है, वह मेरे इशारों पर चलते हैं ; पर यथार्थ में बात उलटी ही थी।

भाद्र मास था। जन्माष्टमी का त्योहार आया। घर में सब लोगों ने व्रत रखा। मैंने भी सदैव की भाँति व्रत रखा। ठाकुरजी का जन्म

रात को बारह बजे होनेवाला था, हम सब बैठी गाती-बजाती थीं। बाबूजी इन असभ्य व्यवहारों के बिलकुल विरुद्ध थे। वह होली के दिन रंग भी न खेलते, गाने-बजाने की तो बात ही अलग। रात को एक बजे जब मैं उनके कमरे में गई, तो मुझे समझाने लगे—इस प्रकार शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ? कृष्ण महापुरुष अवश्य थे, और उनकी पूजा करना हमारा कर्तव्य है; पर इस गाने-बजाने से क्या फायदा? इस ढोंग का नाम धर्म नहीं है। धर्म का सम्बन्ध सचाई और ईमान से है, दिखावे से नहीं।

बाबूजी स्वयं इस मार्ग का अनुसरण करते थे। वह भगवद्गीता की अत्यंत प्रशंसा करते; पर उसका पाठ कभी न करते थे। उपनिषदों की प्रशंसा में उनके मुख से मानो पुष्प-वृष्टि होने लगती थी; पर मैंने उन्हें कभी कोई उपनिषद् पढ़ते नहीं देखा। वह हिन्दू-धर्म के गूढ़ तत्त्व-ज्ञान पर लट्टू थे; पर इसे समयानुकूल नहीं समझते थे। विशेषकर वेदान्त को तो भारत की अवनति का मूल कारण समझते थे। वह कहा करते, कि इसी वेदान्त ने हमको चौपट कर दिया; हम दुनिया के पदार्थों को तुच्छ समझने लगे, जिसका फल अब तक भुगत रहे हैं। अब उन्नति का समय है। चुपचाप बैठे रहने से निर्वाह नहीं। संतोष ने ही भारत को ग़ारत कर दिया।

उस समय उनको उत्तर देने की शक्ति मुझमें कहाँ थी? हाँ, अब जान पड़ता है, कि वह योरप-सभ्यता के चक्कर में पड़े हुए थे। अब वह स्वयं ऐसी बातें नहीं करते, वह जोश अब ठंडा हो चला है।

(४)

इसके कुछ दिन बाद हम इलाहाबाद चले आये। बाबूजी ने पहले ही एक दोमंज़िला मकान ले रखा था—सब तरह से सजा-सजाया। हमारे यहाँ पाँच नौकर थे—दो स्त्रियाँ, दो पुरुष और एक महराज।

अब मैं घर के कुल काम-काज से छुट्टी पा गई। कभी जी घबराता, तो कोई उपन्यास लेकर पढ़ने लगती।

यहाँ फूल और पीतल के बर्तन बहुत कम थे। चीनी की रकाबियाँ और प्याले आलमारियों में सजे रखे थे। भोजन मेज़ पर आता था। बाबूजी बड़े चाव से भोजन करते। मुझे पहले कुछ शर्म आती थी; लेकिन धीरे-धीरे मैं भी मेज़ ही पर भोजन करने लगी। हमारे पास एक सुन्दर टमटम भी थी। अब हम पैदल बिल्कुल न चलते। किसी से मिलने दस पग भी जाना होता, तो गाड़ी तैयार कराई जाती। बाबूजी कहते यही फैशन है।

बाबूजी की आमदनी अभी बहुत कम थी। भली-भाँति खर्च भी न चलता था। कभी-कभी मैं उन्हें चिन्ताकुल देखती, तो समझाती, कि जब आय इतनी कम है, तो व्यय इतना क्यों बढ़ा रखा है? कोई छोटा-सा मकान ले लो। दो नौकरों से भी काम चल सकता है; लेकिन बाबूजी मेरी बातों पर हँस देते और कहते—मैं अपनी दरिद्रता का ढिंढोरा अपने-आप क्यों पीटूँ? दरिद्रता प्रकट करना दरिद्र होने से अधिक दुःखदायी होता है। भूल जाओ, कि हम लोग निर्धन हैं, फिर लक्ष्मी हमारे पास आप दौड़ी आयगी। ख़र्च बढ़ना, आवश्यकताओं का अधिक होना ही द्रव्योपार्जन की पहली सीढ़ी है। इससे हमारी गुप्त शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। और हम उन कष्टों को झेलते हुए आगे पग धरने के योग्य होते हैं। सन्तोष दरिद्रता का दूसरा नाम है।

अस्तु, हम लोगों का ख़र्च दिन-दिन बढ़ता ही जाता था। हम लोग सप्ताह में तीन बार थियेटर ज़रूर देखने जाते। सप्ताह में एक बार मित्रों को भोज अवश्य ही दिया जाता। अब मुझे सूझने लगा, कि जीवन का लक्ष्य सुख-भोग ही है। ईश्वर को हमारी उपासना की इच्छा नहीं। उसने हमको उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भोगने के लिए ही दी हैं। उनको

भोगना ही उसकी सर्वोत्तम आराधना है। एक ईसाई लेडी मुझे पढ़ाने तथा गाना सिखाने आने लगी। घर में एक पियानो भी आ गया। इन्हीं आनन्दों में फँसकर मैं रामायण और भक्तमाल को भूल गई। वे पुस्तकें मुझे अप्रिय मालूम होने लगीं। देवताओं पर से विश्वास भी उठ गया।

धीरे-धीरे यहाँ के बड़े लोगों से स्नेह और सम्बन्ध बढ़ने लगा। यह एक बिलकुल नई सोसाइटी थी। इसका रहन-सहन, आहार-व्यवहार और आचार-विचार मेरे लिए सर्वथा अनोखे थे। मैं इस सोसाइटी में ऐसी जान पड़ती, जैसे मोरों में कौआ। इन लेडियों की बातचीत कभी थिएटर और घुड़दौड़ के विषय में होती, कभी टेनिस, समाचार-पत्रों और अच्छे-अच्छे लेखकों के लेखों पर। उनके चातुर्य, बुद्धि की तीव्रता, फुर्ती और चपलता पर मुझे अचंभा होता। ऐसा मालूम होता, कि वे ज्ञान और प्रकाश की पुतलियाँ हैं। वे बिना घूँघट बाहर निकलतीं। मैं उनके साहस पर चकित रह जाती। वे मुझे भी कभी-कभी अपने साथ ले जाने की चेष्टा करतीं; लेकिन मैं लज्जावश न जा सकती। मैं उन लेडियों को कभी उदास या चिन्तित न पाती। मिस्टर दास बहुत बीमार थे; परन्तु मिसेज़ दास के माथे पर चिन्ता का चिह्न तक न था। मिस्टर बागड़ी नैनीताल में तपेदिक़ का इलाज करा रहे थे; पर मिसेज़ बागड़ी नित्य टेनिस खेलने जाती थीं। इस अवस्था में मेरी क्या दशा होती, यह मैं ही जानती हूँ!

इन लेडियों की रीति-नीति में एक आकर्षण-शक्ति थी, जो मुझे खींचे लिये जाती थी। मैं उन्हें सदैव आमोद-प्रमोद के लिए उत्सुक देखती, और मेरा भी जी चाहता कि उन्हीं की भाँति मैं निस्संकोच हो जाती। उनका अँगरेज़ी वर्त्तालाप सुनकर मुझे मालूम होता कि वे देवियाँ हैं। मैं अपनी इन त्रुटियों की पूर्त्ति के लिए प्रयत्न किया करती थी।

इसी बीच में मुझे एक खेदजनक अनुभव होने लगा; यद्यपि बाबूजी पहले से मेरा अधिक आदर करते, मुझे सदैव 'डियर—डार्लिंग'

आदि कहकर पुकारते थे, तथापि मुझे उनकी बातों में एक प्रकार की बनावट मालूम होती थी। ऐसा प्रतीत होता, मानो ये बातें उनके हृदय से नहीं केवल मुख से निकलती हैं। उनके स्नेह और प्यार में हार्दिक भावों की जगह अलंकार ज्यादा होता था; किन्तु और भी अचम्भे की बात तो यह थी, कि अब मुझे बाबूजी पर वह पहले की-सी श्रद्धा न रही थी। अब उनकी सिर की पीड़ा से मेरे हृदय में पीड़ा न होती थी। मुझमें आत्म-गौरव का आविर्भाव होने लगा था। अब मैं अपना बनाव-शृङ्गार इसलिए करती थी, कि संसार में यह भी मेरा एक कर्तव्य है; इसलिए नहीं, कि मैं किसी एक पुरुष की व्रतधारिणी हूँ। अब मुझे भी अपनी सुन्दरता पर गर्व होने लगा था। मैं अब किसी दूसरे के लिए नहीं, अपने लिए जीती थी। त्याग तथा सेवा का भाव मेरे हृदय से लुप्त होने लगा था।

मैं अब भी परदा करती थी; परन्तु हृदय अपनी सुन्दरता की सराहना सुनने के लिए व्याकुल रहता था। एक दिन मिस्टर दास तथा और भी अनेक सभ्यगण बाबूजी के साथ बैठे हुए थे। मेरे और उनके बीच में केवल एक परदे की आड़ थी। बाबूजी मेरी इस झिझक से बहुत ही लज्जित थे। इसे वह अपनी सभ्यता में काला धब्बा समझते थे। कदाचित् वह दिखाना चाहते थे कि मेरी स्त्री इसलिए परदे में नहीं है, कि वह रूप तथा वस्त्राभूषणों में किसी से कम है; बल्कि इसलिए, कि अभी उसे लज्जा आती है। वह मुझे किसी बहाने से बारम्बार परदे के निकट बुलाते, जिसमें उनके मित्र मेरी सुन्दरता और मेरे वस्त्राभूषण देख लें। अन्त में कुछ दिन बाद मेरी झिझक ग़ायब हो गई। इलाहाबाद आने के पूरे दो वर्ष बाद मैं बाबूजी के साथ बिना परदे के सैर करने लगी। सैर के बाद टेनिस की नौबत आई। अन्त को मैंने क्लब में जाकर दम लिया। पहले यह टेनिस और क्लब मुझे तमाशा-सा मालूम होता था, मानो वे लोग व्यायाम के लिए नहीं बल्कि फैशन के

लिए टेनिस खेलने आते थे। वे कभी न भूलते थे, कि हम टेनिस खेल रहे हैं। उनके प्रत्येक काम में, झुकने में, दौड़ने में, उचकने में एक कृत्रिमता होती थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि इस खेल का प्रयोजन कसरत नहीं, केवल दिखावा है।

क्लब में इससे भी विचित्र अवस्था थी। वह पूरा स्वाँग था, भद्दा और बेजोड़। लोग अँगरेज़ी के कुछ चुने हुए शब्दों का प्रयोग करते थे, जिनमें कोई सार न होता था, नकली हँसी हँसते थे, जिसका कोई अवसर न होता था। स्त्रियों की वह फूहड़ निर्लज्जता और पुरुषों की वह भावशून्य स्त्री-पूजा मुझे तनिक भी न भाती थी। चारो ओर अँगरेज़ी चाल-ढाल की एक हास्यजनक नक़ल थी; परन्तु क्रमशः मैं भी वही रंग पकड़ने और उन्हीं का अनुकरण करने लगी। अब मुझे अनुभव हुआ, कि इस प्रदर्शन-लोलुपता में कितनी शक्ति है। मैं अब नित्य नये शृंगार करती, नित्य नया रूप भरती, केवल इसलिए कि क्लब में सबकी आखों में चुभ जाऊँ। अब मुझे बाबूजी की सेवा-सत्कार से अधिक अपने बनाव-शृंगार की धुन रहती थी। यहाँ तक कि यह शौक़ एक नशा-सा बन गया। इतना ही नहीं, लोगों से अपने सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर मुझे एक अभिमान-मिश्रित आनन्द का अनुभव होने लगा। मेरी लज्जा-शीलता की सीमाएँ विस्तृत हो गईं। वह दृष्टिपात, जो कभी मेरे शरीर के प्रत्येक रोएँ को खड़ा कर देता, और वह हास्य-कटाक्ष, जो कभी मुझे विष खा लेने को प्रस्तुत कर देता, उनसे अब मुझे एक उन्माद-पूर्ण हर्ष होता था; परन्तु जब कभी मैं अपनी अवस्था पर आन्तरिक दृष्टि डालती, तो मुझे बड़ी घबराहट होती थी। यह नाव किस घाट लगेगी? कभी-कभी इरादा करती, कि क्लब न जाऊँगी; परन्तु समय आते ही फिर तैयार हो जाती। मैं अपने वश में न थी। मेरी सत्कल्पनाएँ निर्बल हो गईं थीं।

(४)

दो वर्ष और बीत गये, और अब बाबूजी के स्वभाव में एक विचित्र

परिवर्तन होने लगा। वह उदास और चिंतित रहने लगे। मुझसे बहुत कम बोलते। ऐसा जान पड़ता, कि इन्हें कठिन चिन्ता ने घेर रखा है, या कोई बीमारी हो गई है। मुँह बिलकुल सूखा रहता था। तनिक-तनिक-सी बात पर नौकरों से झल्लाने लगते, और बाहर बहुत कम जाते।

अभी एक ही मास पहले वह सौ काम छोड़कर क्लब अवश्य जाते थे। वहाँ गये बिना उन्हें कल न पड़ती थी ; पर अब अधिकतर अपने कमरे में आरामकुर्सी पर लेटे हुए समाचार-पत्र और पुस्तकें देखा करते थे। मेरी समझ में न आता, कि बात क्या है।

एक दिन उन्हें बड़े ज़ोर का बुखार आया, दिन-भर बेहोश पड़े रहे ; परन्तु मुझे उनके पास बैठने में अनकुस-सा लगता था। मेरा जी एक उपन्यास में लगा हुआ था। उनके पास जाती और पल-भर में फिर लौट आती थी। टेनिस का समय आया, तो दुबिधा में पड़ गई, कि जाऊँ या न जाऊँ। देर तक मन में यह संग्राम होता रहा। अन्त को मैंने यही निर्णय किया, कि मेरे यहाँ रहने से यह कुछ अच्छे तो हो नहीं जायँगे, इससे मेरा यहाँ बैठा रहना बिलकुल निरर्थक है। मैंने बढ़िया वस्त्र पहने, और रैकेट लेकर क्लब-घर जा पहुँची। वहाँ मैंने मिसेज़ दास और मिसेज़ बागची से बाबूजी की दशा बतलाई, और सजलनेत्र चुप-चाप बैठी रही। जब सब लोग कोर्ट में जाने लगे, और मिस्टर दास ने मुझसे चलने को कहा, तो मैं एक ठंडी आह भरकर कोर्ट में जा पहुँची और खेलने लगी।

आज से तीन वर्ष पूर्व बाबूजी को इसी प्रकार बुखार आ गया था। मैं रात-भर उन्हें पंखा झलती रही थी। हृदय व्याकुल था, और यही जी चाहता था, कि इनके बदले मुझे बुखार आ जाय ; परन्तु यह उठ बैठें। पर अब हृदय तो स्नेह-शून्य हो गया था, दिखावा अधिक था। अकेले रोने की मुझमें क्षमता न रह गई थी। मैं सदैव की भाँति रात

को नौ बजे लौटी। बाबूजी का जी कुछ अच्छा जान पड़ा। उन्होंने मुझे केवल दबी दृष्टि से देखा, और करवट बदल ली ; परन्तु मैं लेटी, तो मेरा ही हृदय मुझे अपनी स्वार्थपरता और प्रमोदासक्ति पर धिक्कारता रहा।

मैं अब अँगरेज़ी उपन्यासों को समझने लगी थी। हमारी बात-चीत अधिक उत्कृष्ट और आलोचनात्मक होती थी।

हमारी सभ्यता का आदर्श अब बहुत ही उच्च हो गया था। हमको अब अपनी मित्र-मंडली से बाहर दूसरों से मिलने-जुलने में संकोच होता था। अब हम अपने से छोटी श्रेणी के लोगों से बोलने में अपना अपमान समझते थे। नौकरों को अपना नौकर समझते थे, और बस। हमको उनके निजी मामलों से कुछ मतलब न था। हम उनसे अलग रहकर उनके ऊपर अपना रोब जमाये रखना चाहते थे। हमारी इच्छा यह थी, कि वह हम लोगों को साहब समझें। हिन्दुस्तानी स्त्रियों को देखकर मुझे उनसे घृणा होती थी। उनमें शिष्टता न थी। ख़ैर।

बाबूजी का जी दूसरे दिन भी न सँभला। मैं क्लब न गई ; परन्तु जब लगातार तीन दिन तक उन्हें बुखार आता गया, और मिसेज़ दास ने बारम्बार एक नर्स बुलाने का आदेश किया, तो मैं सहमत हो गई। उस दिन से रोगी की सेवा-शुश्रूषा से छुट्टी पाकर बड़ा हर्ष हुआ। यद्यपि दो दिन मैं क्लब न गई थी ; परन्तु मेरा जी वहीं लगा रहता था ; बल्कि अपने भीरुता-पूर्ण त्याग पर क्रोध भी आता था।

एक दिन तीसरे पहर मैं कुर्सी पर लेटी हुई एक अँगरेज़ी पुस्तक पढ़ रही थी। अचानक मन में यह विचार उठा, कि बाबूजी का बुख़ार असाध्य हो जाय, तो ? परन्तु इस विचार से मुझे लेश-मात्र भी दुःख न हुआ। मैं इस शोकमय कल्पना का मन-ही-मन आनन्द उठाने लगी। मिसेज़ दास, मिसेज़ नायडू, मिसेज़ श्रीवास्तव, मिस खरे, मिसेज़ शरगा अवश्य ही मातमपुर्सी करने आयेंगी। उन्हें देखते ही मैं सजलनेत्र हो उठूँगी, और कहूँगी—बहनो ! मैं लुट गई ! हाय, मैं लुट गई ! अब मेरा जीवन

अँधेरी रात के भयावह वन या श्मशान के दीपक के समान है। परन्तु मेरी अवस्था पर दुःख न प्रकट करो। मुझ पर जो पड़ेगी, उसे मैं उस महान् आत्मा के मोक्ष के विचार से सह लूँगी।

मैंने इस प्रकार मन में एक शोक-पूर्ण व्याख्यान की रचना कर डाली। यहाँ तक कि अपने उस वस्त्र के विषय में भी निश्चय कर लिया, जो मृतक के साथ श्मशान जाते समय पहनूँगी।

इस घटना की शहर-भर में चर्चा हो जायगी। सारे कैंटून्मेंट के लोग मुझे समवेदना के पत्र भेजेंगे। तब मैं उनका उत्तर समाचार-पत्रों में प्रकाशित करा दूँगी कि मैं प्रत्येक शोक-पत्र का उत्तर देने में असमर्थ हूँ। हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, उसे रोने के सिवा और किसी काम के लिए समय नहीं है। मैं इस हमदर्दी के लिए उन लोगों की कृतज्ञ हूँ, और उनसे विनय-पूर्वक निवेदन करती हूँ, कि वे मृतक की आत्मा की सद्गति के निमित्त ईश्वर से प्रार्थना करें।

मैं इन्हीं विचारों में डूबी हुई थी, कि नर्स ने आकर कहा—आपको साहब याद करते हैं। यह मेरे क्लब जाने का समय था। मुझे उनका बुलाना अखर गया; लेकिन क्या करती, किसी तरह उनके पास गई। बाबूजी को बीमार हुए लगभग एक मास हो गया था। वह अत्यन्त दुर्बल हो रहे थे। उन्होंने मेरी ओर विनय-पूर्ण दृष्टि से देखा। उसमें आँसू भरे हुए थे। मुझे उन पर दया आई। बैठ गई, और ढाढ़स देते हुए बोली—क्या करूँ कोई दूसरा डाक्टर बुलाऊँ?

बाबूजी आँखें नीची करके अत्यन्त करुणा-भाव से बोले—मैं यहाँ कभी नहीं अच्छा हो सकता, मुझे अम्माँ के पास पहुँचा दो।

मैंने कहा—क्या आप समझते हैं, कि वहाँ आपकी चिकित्सा यहाँ से अच्छी होगी?

बाबूजी बोले—क्या जाने क्यों मेरा जी अम्माँ के दर्शनों को लाला-

यित हो रहा है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं वहाँ बिना दवा-दर्पन के भी अच्छा हो जाऊँगा।

मैं—यह आपका केवल विचार-मात्र है।

बाबूजी—शायद ऐसा ही हो ; लेकिन मेरी यह विनय स्वीकार करो। मैं इस रोग से नहीं, इस जीवन से ही दुःखित हूँ।

मैंने अचरज से उनकी ओर देखा।

बाबूजी फिर बोले—हाँ, मैं इस ज़िन्दगी से तंग आ गया हूँ। मैं अब समझ रहा हूँ, कि मैं जिस स्वच्छ, लहराते हुए निर्मल जल की ओर दौड़ा जा रहा था, वह मरु-भूमि है। मैं इस प्रकार के जीवन के बाहरी रूप पर लट्टू हो रहा था ; परन्तु अब मुझे उसकी आन्तरिक अवस्थाओं का बोध हो रहा है। इन चार वर्षों में मैंने इस उपवन में ख़ूब भ्रमण किया, और उसे आदि से अन्त तक कंटकमय पाया। यहाँ न तो हृदय की शांति है, न आत्मिक आनन्द। यह एक उन्मत्त, अशान्तिमय, स्वार्थ-पूर्ण, विलासयुक्त जीवन है। यहाँ न नीति है न धर्म, सहानुभूति न सहृदयता। परमात्मा के लिए मुझे इस अग्नि से बचाओ। यदि और कोई उपाय न हो, तो अम्माँ को एक पत्र ही लिख दो। वह अवश्य यहाँ आयेंगी। अपने अभागे पुत्र का दुःख उनसे न देखा जायगा। उन्हें इस सोसाइटी की हवा अभी नहीं लगी, वह आयेंगी। उनकी वह ममता-पूर्ण दृष्टि, वह स्नेह-पूर्ण सुश्रूषा मेरे लिए सौ औषधियों का काम करेगी। उनके मुख पर वह ज्योति प्रकाशमान होगी, जिसके लिए मेरे नेत्र तरस रहे हैं। उनके हृदय में स्नेह है, विश्वास है। यदि उनकी गोद में मैं मर भी जाऊँ, तो मेरी आत्मा को शांति मिलेगी।

मैं समझी, कि यह बुखार की बकझक है। नर्स से कहा—ज़रा इनका टेंपरेचर तो लो, मैं अभी डाक्टर के पास जाती हूँ। मेरा हृदय एक अज्ञात भय से काँपने लगा। नर्स ने थरमामीटर निकाला ; परन्तु ज्योंही वह बाबूजी के समीप गई, उन्होंने उसके हाथ से वह यंत्र छीन-

कर पृथ्वी पर पटक दिया। उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। फिर मेरी ओर एक अवहेलना-पूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहती हो कि मैं क्लब-घर जाती हूँ, जिसके लिए तुमने ये वस्त्र धारण किये हैं और गाउन पहनी है। खैर, उधर से घूमती हुई यदि डाक्टर के पास जाना, तो उनसे कह देना कि यहाँ टेंपरेचर उस बिन्दु पर आ पहुँचा है, जहाँ आग लग जाती है।

मैं और भी अधिक भयभीत हो गई। हृदय में एक करुण चिन्ता का संचार होने लगा। गला भर आया। बाबूजी ने नेत्र मूँद लिये थे, और उनकी साँस वेग से चल रही थी। मैं द्वार की ओर चली कि किसी को डाक्टर के पास भेजूँ। यह फटकार सुनकर स्वयं कैसे जाती? इतने में बाबूजी उठ बैठे और विनीत भाव से बोले—श्यामा, मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ। बात दो सप्ताह से मन में थी; पर साहस न हुआ। आज मैंने निश्चय कर लिया है कि कह ही डालूँ। मैं अब फिर अपने घर जाकर वही पहले की-सी जिन्दगी बिताना चाहता हूँ। मुझे अब इस जीवन से घृणा हो गई है, और यही मेरी बीमारी का मुख्य कारण है। मुझे शारीरिक नहीं, मानसिक कष्ट है। मैं फिर तुम्हें वही पहले की-सी सलज्ज, नीचा सिर करके चलनेवाली, पूजा करनेवाली, रामायण पढ़नेवाली, घर का काम-काज करनेवाली, चरखा कातनेवाली, ईश्वर से डरनेवाली, पतिश्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहता हूँ। मैं विश्वास करता हूँ, तुम मुझे निराश न करोगी। तुमको सोलहो आने अपनी बनाना और सोलहो आने तुम्हारा बनना चाहता हूँ। मैं अब समझ गया, कि उसी सादे पवित्र जीवन में वास्तविक सुख है। बोलो, स्वीकार है? तुमने सदैव मेरी आज्ञाओं का पालन किया है, इस समय निराश न करना; नहीं तो इस कष्ट और शोक का न जाने कितना भयंकर परिणाम हो।

मैं सहसा कोई उत्तर न दे सकी। मन में सोचने लगी—इस

स्वतन्त्र जीवन में कितना सुख था ? ये मजे वहाँ कहाँ ? क्या इतने दिन स्वतन्त्र वायु में विचरण करने के पश्चात् फिर उसी पिंजड़े में जाऊँ ? वही लौंडी बनकर रहूँ ? क्यों इन्होंने मुझे वर्षों स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया, वर्षों देवताओं की, रामायण की, पूजा-पाठ की, व्रत-उपवास की बुराई की, हँसी उड़ाई ? अब जब मैं उन बातों को भूल गई, उन्हें मिथ्या समझने लगी, तो फिर मुझे उसी अन्धकूप में ढकेलना चाहते हैं। मैं तो इन्हीं की इच्छा के अनुसार चलती हूँ, फिर मेरा अपराध क्या है ? लेकिन बाबूजी के मुख पर एक ऐसी दीनता-पूर्ण विवशता थी, कि मैं प्रत्यक्ष अस्वीकार न कर सकी। बोली—आखिर आपको यहाँ क्या कष्ट है ?

मैं उनके विचारों की तह तक पहुँचना चाहती थी।

बाबूजी फिर उठ बैठे, और मेरी ओर कठोर दृष्टि से देखकर बोले—बहुत ही अच्छा होता, कि तुम इस प्रश्न को मुझसे पूछने के बदले अपने ही हृदय से पूछ लेतीं। क्या अब मैं तुम्हारे लिए वही हूँ, जो आज से तीन वर्ष पहले था ? जब मैं तुमसे अधिक शिक्षा-प्राप्त, अधिक बुद्धिमान्, अधिक जानकार होकर तुम्हारे लिए वह नहीं रहा जो पहले था—तुमने चाहे इसका अनुभव न किया हो ; परन्तु मैं स्वयं कह रहा हूँ—तो मैं कैसे अनुमान करूँ, कि उन्हीं भावों ने तुम्हें स्खलित न किया होगा ? नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष चिह्न देख पड़ते हैं, कि तुम्हारे हृदय पर उन भावों का और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। तुमने अपने को ऊपरी बनाव-चुनाव और विलास के भँवर में डाल दिया है, और तुम्हें उसकी लेशमात्र भी सुध नहीं है। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया, कि सभ्यता, स्वेच्छा-चारिता का भूत स्त्रियों के कोमल हृदय पर बड़ी सुगमता से क़ब्जा कर सकता है। क्या अब से तीन वर्ष पूर्व भी तुम्हें यह साहस हो सकता था, कि मुझे इस दशा में छोड़कर किसी पड़ोसिन के यहाँ गाने-बजाने चली जातीं ? मैं बिछौने पर पड़ा रहता, और तुम किसी के घर जाकर

कल्लोलें करतीं ? स्त्रियों का हृदय आधिक्य-प्रिय होता है ; परन्तु इस नवीन आधिक्य के बदले मुझे वह पुराना आधिक्य कहीं ज्यादा पसन्द है। उस आधिक्य का फल आत्मिक एवं शारीरिक अभ्युदय और हृदय की पवित्रता थी ; पर इस आधिक्य का परिणाम है छिछोरापन, निर्लज्जता, दिखावा और स्वेच्छाचार। उस समय यदि तुम इस प्रकार मिस्टर दास के सम्मुख हँसतीं-बोलतीं, तो मैं या तो तुम्हें मार डालता, या स्वयं विष-पान कर लेता ; परन्तु बेहयाई ऐसे जीवन का प्रधान तत्त्व है। मैं सब कुछ स्वयं देखता और सहता हूँ, कदाचित् सहे भी जाता, यदि इस बीमारी ने मुझे सचेत न कर दिया होता। अब यदि तुम यहाँ बैठी भी रहो, तो मुझे सन्तोष न होगा ; क्योंकि मुझे यह विचार दुःखित करता रहेगा, कि तुम्हारा हृदय यहाँ नहीं है। मैंने अपने को उस इन्द्रजाल से निकालने का निश्चय कर लिया है, जहाँ धन का नाम मान हैं, इन्द्रिय-लिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार-स्वातंत्र्य। बोलो, मेरा प्रस्ताव स्वीकार है ?

मेरे हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बाबूजी का अभिप्राय पूर्णतया हृदयंगम हो गया। अभी हृदय में कुछ पुरानी लज्जा बाक़ी थी। यह यंत्रणा असह्य हो गई। लज्जा पुनर्जीवित हो उठी। अन्तरात्मा ने कहा—अवश्य ! मैं अब वह नहीं हूँ, जो पहले थी। उस समय मैं इनको अपना इष्टदेव मानती थी, इनकी आज्ञा शिरोधार्य थी ; पर अब वह मेरी दृष्टि में एक साधारण मनुष्य हैं। मिस्टर दास का चित्र मेरे नेत्रों के सामने खिंच गया। कल मेरे हृदय पर इस दुरात्मा की बातों का कैसा नशा छा गया था, यह सोचते ही नेत्र लज्जा से झुक गये। बाबूजी की आन्तरिक अवस्था उनके मुखड़े ही से प्रकाशमान् हो रही थी। स्वार्थ और विलास-लिप्सा के विचार मेरे हृदय से दूर हो गये। उनके बदले ये शब्द ज्वलंत अक्षरों में लिखे हुए नज़र आये—तूने फैशन और वस्त्राभूषणों में अवश्य उन्नति की है, तुझमें अपने स्वत्वों का ज्ञान हो आया

है, तुझमें जीवन के सुख भोगने की योग्यता अधिक हो गई है, तू अब अधिक गर्विणी, दृढ़हृदय और शिक्षा-सम्पन्न भी हो गई; लेकिन तेरे आत्मिक बल का विनाश हो गया क्योंकि तू अपने कर्तव्य को भूल गई।

मैं दोनो हाथ जोड़कर बाबूजी के चरणों पर गिर पड़ी। कंठ रुँध गया, एक शब्द भी मुँह से न निकला, अश्रु-धारा बह चली। अब मैं फिर अपने घर पर आ गई हूँ। अम्माँजी अब मेरा अधिक सम्मान करती हैं, बाबूजी सन्तुष्ट देख पड़ते हैं। वह अब स्वयं प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन करते हैं।

मिसेज़ दास के पत्र कभी-कभी आते हैं। वह इलाहाबादी सोसाइटी के नवीन समाचारों से भरे होते हैं। मिस्टर दास और मिस भाटिया के सम्बन्ध में कलुषित बातें उड़ रही हैं। मैं इन पत्रों का उत्तर तो दे देती हूँ, परन्तु चाहती हूँ कि वह अब न आते तो अच्छा होता। वह मुझे उन दिनों की याद दिलाते हैं, जिन्हें मैं भूल जाना चाहती हूँ।

कल बाबूजी ने बहुत-सी पुरानी पोथियाँ अग्निदेव को अर्पण कीं। उनमें खासकर बाइबल की कई पुस्तकें थीं। वह अब अँगरेज़ी पुस्तकें बहुत कम पढ़ते हैं। उन्हें कार्लाइल, रस्किन और एमरसन के सिवा और कोई पुस्तक पढ़ते मैं नहीं देखती। मुझे तो अपनी रामायण और महाभारत में फिर वही आनन्द प्राप्त होने लगा है। चरखा अब पहले से अधिक चलाती हूँ; क्योंकि इस बीच में चरखे ने ख़ूब प्रचार पा लिया है।

जीवन का शाप

काबसजी ने पत्र निकाला और यश कमाने लगे। शापूरजी ने रूई की दलाली शुरू की और धन कमाने लगे। कमाई दोनो ही कर रहे थे; पर शापूरजी प्रसन्न थे, कावसजी विरक्त। शापूरजी को धन के साथ सम्मान और यश आप ही आप मिलता था। कावसजी को यश के साथ धन दूरबीन से देखने पर भी न दिखाई देता था; इसलिए शापूरजी के जीवन में शान्ति थी, सहृदयता थी, आशावाद था, क्रीड़ा थी। कावसजी के जीवन में अशान्ति थी, कटुता थी, निराशा थी, उदासीनता थी। धन को तुच्छ समझने की वह बहुत चेष्टा करते थे; लेकिन प्रत्यक्ष को कैसे झुठला देते। शापूरजी के घर में विराजनेवाले सौजन्य और शान्ति के सामने उन्हें अपने घर के कलह और फूहड़पन से घृणा होती थी। मृदुभाषिणी मिसेज़ शापूर के सामने उन्हें अपनी गुलशन बानू संकीर्णता और ईर्ष्या का अवतार-सी लगती थी। शापूरजी घर में आते, तो शीरीं बाई मृदुहास से उनका स्वागत करतीं। वह ख़ुद दिन-भर के थके-माँदे घर आते, तो गुलशन अपना दुखड़ा सुनाने

बैठ जाती और उनको खूब फटकारें बताती—तुम भी अपने को आदमी कहते हो ! मैं तो तुम्हें बैल समझती हूँ। बैल बड़ा मेहनती है, ग़रीब है, सन्तोषी है, माना ; लेकिन उसे विवाह करने का क्या हक़ था।

कावसजी से एक लाख बार यह प्रश्न किया जा चुका था कि जब तुम्हें समाचार-पत्र निकालकर अपना जीवन बरबाद करना था, तो तुमने विवाह क्यों किया ? क्यों मेरी जिन्दगी तबाह कर दी ? जब तुम्हारे घर में रोटियाँ न थीं, तो मुझे क्यों लाये ? इस प्रश्न का जवाब देने की कावसजी में शक्ति न थी। उन्हें कुछ सूझता ही न था। वह सचमुच अपनी ग़लती पर पछताते थे। एक बार बहुत तंग आकर उन्होंने कहा था—अच्छा भाई, अब तो जो होना था, हो चुका ; लेकिन मैं तुम्हें बाँधे तो नहीं हूँ, तुम्हें जो पुरुष ज्यादा सुखी रख सके, उसके साथ जाकर रहो, अब और मैं क्या कहूँ। आमदनी नहीं बढ़ती, तो मैं क्या करूँ, क्या चाहती हो जान दे दूँ ? इस पर गुलशन ने उनके दोनो कान पकड़कर जोर से ऐंठे और गालों पर दो तमाचे लगाये और पैनी आँखों से काटती हुई बोली—अच्छा अब चोंच सँभालो, नहीं अच्छा न होगा। ऐसी बात मुँह से निकालते तुम्हें लाज नहीं आती। हयादार होते, तो चिल्लू भर पानी में डूब मरते। उस दूसरे पुरुष के महल में आग लगा दूँगी, उसका मुँह झुलस दूँगी। तब से बेचारे कावसजी के पास इस प्रश्न का कोई जवाब न रहा। कहाँ तो यह असन्तोष और विद्रोह की ज्वाला, और कहाँ वह मधुरता और भद्रता की देवी शीरीं, जो कावसजी को देखते ही फूल की तरह खिल उठती, मीठी-मीठी बातें करती, चाय और मुरब्बे और फलों से सत्कार करती और अक्सर उन्हें अपनी कार पर घर पहुँचा देती। कावसजी ने कभी मन में भी इसे स्वीकार करने का साहस नहीं किया ; मगर उनके हृदय में यह लालसा छिपी हुई थी कि गुलशन की जगह शीरीं होती, तो उनका जीवन कितना गुलज़ार होता। कभी-कभी गुलशन की कटूक्तियों से वह

इतने दुःखी हो जाते कि यमराज का आवाहन करते। घर उनके लिए कैदखाने से कम जानलेवा न था और उन्हें जब अवसर मिलता, सीधे शीरीं के घर जाकर अपने दिल की जलन बुझा आते।

(२)

एक दिन कावसजी सवेरे गुलशन से झल्लाकर शापूरजी के टेरेस में पहुँचे, तो देखा शीरीं बानू की आँखें लाल हैं और चेहरा भभराया हुआ है, जैसे रोकर उठी हों। कावसजी ने चिन्तित होकर पूछा—आपका जी कैसा है, बुखार तो नहीं आ गया?

शीरीं ने दर्द-भरी आँखों से देखकर रोनी आवाज़ से कहा—नहीं, बुखार तो नहीं है, कम-से-कम देह का बुखार तो नहीं है।

कावसजी इस पहेली का कुछ मतलब न समझे।

शीरीं ने एक क्षण मौन रहकर फिर कहा—आपको मैं अपना मित्र समझती हूँ मि० कावसजी। आपसे क्या छिपाऊँ। मैं इस जीवन से तंग आ गई हूँ। मैंने अब तक हृदय की आग हृदय में रखी; लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब उसे बाहर न निकालूँ, तो मेरी हड्डियाँ तक जल जायँगी। इस वक्त आठ बजे हैं; लेकिन मेरे रँगीले पिया का कहीं पता नहीं। रात को खाना खाकर वह एक मित्र से मिलने का बहाना करके घर से निकले थे और अभी तक लौटकर नहीं आये। और आज यह कोई नई बात नहीं है। इधर कई महीनों से यह इनकी रोज़ की आदत है। मैंने आज तक आपसे कभी अपना दर्द नहीं कहा; मगर उस समय भी जब मैं हँस-हँसकर आपसे बातें करती थी, मेरी आत्मा रोती रहती थी।

कावसजी ने निष्कपट भाव से कहा—तुमने पूछा नहीं, कहाँ रह जाते हो?

'पूछने से ही क्या लोग अपने दिल की बातें बता दिया करते हैं?'

'तुमसे तो उन्हें कोई भेद न रखना चाहिये।'

'घर में जी न लगे, तो आदमी क्या करे।'

'मुझे यह सुनकर आश्चर्य हो रहा है। तुम-जैसी देवी जिस घर में हो, वह स्वर्ग है। शापूरजी को तो अपना भाग्य सराहना चाहिये।'

'आपका यह भाव तभी तक है, जब तक आपके पास धन नहीं है। आज तुम्हें कहीं से दो-चार लाख मिल जाय, तो तुम यों न रहोगे, और तुम्हारे यह भाव बदल जायँगे। यही धन का सबसे बड़ा अभिशाप है। ऊपरी सुख-शान्ति के नीचे कितनी आग है, यह तो उसी वक्त खुलता है, जब ज्वालामुखी फट पड़ता है। वह समझते हैं, धन से घर भरकर उन्होंने मेरे लिए वह सब कुछ कर दिया, जो उनका कर्तव्य था, और अब मुझे असन्तुष्ट होने का कोई कारण नहीं। वह नहीं जानते कि ऐश के ये सारे सामान उन मिस्री तहखानों में गड़े हुए पदार्थों की तरह हैं, जो मृतात्मा के भोग के लिए रखे जाते थे।'

कावसजी आज एक नई बात सुन रहे थे। उन्हें अब तक जीवन का जो अनुभव हुआ था, वह यह था कि स्त्री अंतःकरण से विलासिनी होती है। उस पर लाख प्राण वारो; उसके लिए मर ही क्यों न मिटो; लेकिन व्यर्थ। वह केवल खरहरा नहीं चाहती, उससे कहीं ज्यादा दाना और घास चाहती है; लेकिन एक यह देवी है, जो विलास की चीज़ों को तुच्छ समझती है और केवल मीठे स्नेह और रसमय सहवास से ही प्रसन्न रहना चाहती है। उनके मन में गुदगुदी-सी उठी।

मिसेज़ शापूर ने फिर कहा—उनका यह व्यापार मेरी बर्दाश्त के बाहर हो गया है मि० कावसजी। मेरे मन में विद्रोह की ज्वाला उठ रही है, और मैं धर्म और शास्त्र और मर्यादा इन सभी का आश्रय लेकर भी त्राण नहीं पाती। मन को समझाती हूँ—क्या संसार में लाखों विधवाएँ नहीं पड़ी हुई हैं? लेकिन किसी तरह चित्त नहीं शान्त होता। मुझे विश्वास आता जाता है कि वह मुझे मैदान में आने के लिए चुनौती दे रहे हैं। मैंने अब तक उनकी चुनौती नहीं ली है;

लेकिन अब पानी सिर के ऊपर चढ़ गया है और मैं किसी तिनके का सहारा ढूँढ़े बिना नहीं रह सकती। वह जो चाहते हैं, वह हो जायगा। आप उनके मित्र हैं, आपसे बन पड़े, तो उनको समझाइये। मैं इस मर्यादा की बेड़ी को अब और न पहन सकूँगी।

मि० कावसजी मन में भावी सुख का एक स्वर्ग निर्माण कर रहे थे। बोले—हाँ हाँ, मैं अवश्य समझाऊँगा। यह तो मेरा धर्म है; लेकिन मुझे आशा नहीं कि मेरे समझाने का उन पर कोई असर हो। मैं तो दरिद्र हूँ, मेरे समझाने का उनकी दृष्टि में मूल्य ही क्या।

'यों वह मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते हैं, बस उनकी यही आदत मुझे पसन्द नहीं।'

'तुमने इतने दिनों बर्दाश्त किया, यही आश्चर्य है। कोई दूसरी औरत तो एक दिन न सहती।'

'थोड़ी बहुत तो यह आदत सभी पुरुषों में होती है; लेकिन ऐसे पुरुषों की स्त्रियाँ भी वैसी ही होती हैं। कर्म से न सही, मन से ही सही। मैंने तो सदैव इनको अपना इष्टदेव समझा है।'

'किन्तु जब पुरुष इसका अर्थ ही न समझे, तो क्या हो। मुझे भय है, वह मन में कुछ और न सोच रहे हों।'

'और क्या सोच सकते हैं?'

'आप अनुमान नहीं कर सकतीं?'

'अच्छा वह बात! मगर मेरा कोई अपराध?'

'शेर और मेमनेवाली कथा आपने नहीं सुनी?'

मिसेज़ शापूर एकाएक चुप हो गईं। सामने से शापूरजी की कार आती दिखाई दी। उन्होंने कावसजी को ताकीद और विनय भरी आँखों से देखा और दूसरे द्वार के कमरे से निकलकर अन्दर चली गईं। मि० शापूर लाल आँखें किये कार से उतरे और मुसकिराकर कावसजी

से हाथ मिलाया। स्त्री की आँखें भी लाल थीं, पति की आँखें भी लाल। एक रुदन से, दूसरी रात की खुमारी से।

(३)

शापूरजी ने हैट उतारकर खूँटी पर लटकाते हुए कहा—क्षमा कीजियेगा, मैं रात को एक मित्र के घर सो गया था। दावत थी। खाने में देर हुई, तो मैंने सोचा अब कौन घर जाय।

कावसजी ने व्यंग-मुस्कान के साथ कहा—किसके यहाँ दावत थी? मेरे रिपोर्टर ने तो कोई ख़बर नहीं दी। ज़रा मुझे नोट करा दीजियेगा।

उन्होंने जेब से नोटबुक निकाली।

शापूरजी ने सतर्क होकर कहा—ऐसी कोई बड़ी दावत नहीं थी जी, दो-चार मित्रों का प्रीति-भोज था।

'फिर भी समाचार तो जाना ही चाहिये। जिस प्रीतिभोज में आप-जैसे प्रतिष्ठित लोग शरीक हों, वह साधारण बात नहीं हो सकती। क्या नाम है मेज़बान साहब का?'

'आप चौंकेंगे तो नहीं?'

'बतलाइये तो।'

'मिस गौहर!'

'मिस गौहर!!'

'जी हाँ, आप चौंके क्यों? क्या आप इसे तस्लीम नहीं करते कि दिन भर रुपए-आने-पाई से सिर मारने के बाद मुझे कुछ मनोरंजन करने का भी अधिकार है। नहीं, जीवन भार हो जाय।'

'मैं इसे नहीं मानता।'

'क्यों?'

'इसलिए कि मैं इस मनोरंजन को अपनी ब्याहता स्त्री के प्रति अन्याय समझता हूँ।'

शापूरजी नकली हँसी हँसे—वही दकियानूसी बात। आपको मालूम

होना चाहिये कि आज का समाज ऐसा कोई बन्धन स्वीकार नहीं करता।

'और मेरा ख़याल है कि कम से कम इस विषय में आज का समाज एक पीढ़ी पहले के समाज से कहीं परिष्कृत है। अब देवियों का यह अधिकार स्वीकार किया जाने लगा है।'

'यानी देवियाँ पुरुषों पर हुकूमत कर सकती हैं?'

'उसी तरह जैसे पुरुष देवियों पर हुकूमत कर सकते हैं।'

'मैं इसे नहीं मानता। पुरुष स्त्री का मुहताज नहीं है, स्त्री पुरुष की मुहताज है।'

'आपका आशय यही तो है कि स्त्री अपने भरण-पोषण के लिए पुरुष पर अवलंबित है।'

'अगर आप इन शब्दों में कहना चाहते हैं, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं; मगर अधिकार की बागडोर जैसे राजनीति में, वैसे ही समाज-नीति में, धन-बल के हाथ रही है और रहेगी।'

'अगर दैवयोग से धनोपार्जन का काम स्त्री कर रही हो और पुरुष कोई काम न मिलने कारण घर बैठा हो, तो स्त्री को अधिकार है कि अपना मनोरंजन जिस तरह चाहे करे?'

'मैं स्त्री को यह अधिकार नहीं दे सकता।'

'यह आपका अन्याय है।'

'बिलकुल नहीं। स्त्री पर प्रकृति ने ऐसे बन्धन लगा दिये हैं कि वह जितना भी चाहे पुरुष की भाँति स्वच्छन्द नहीं रह सकती और न पशु-बल में पुरुष का मुक़ाबला कर सकती है। हाँ, गृहिणी का पद त्यागकर, या अप्राकृतिक जीवन का आश्रय लेकर, वह सब कुछ कर सकती है।'

'आप लोग उसे मजबूर कर रहे हैं कि अप्राकृतिक जीवन का आश्रय ले।'

'मैं ऐसे समय की कल्पना ही नहीं कर सकता, जब पुरुषों का आधिपत्य स्वीकार करनेवाली औरतों का काल पड़ जाय। क़ानून

और सभ्यता मैं नहीं जानता। पुरुषों ने स्त्रियों पर हमेशा राज किया है और करेंगे।'

सहसा कावसजी ने पहलू बदला। इतनी थोड़ी-सी देर में ही वह अच्छे ख़ासे कूटनीति-चतुर हो गये थे। शापूरजी को प्रशंसा-सूचक आँखों से देखकर बोले—तो हम और आप दोनो एक विचार के हैं। मैं आपकी परीक्षा ले रहा था। मैं भी स्त्री को गृहिणी, माता और स्वामिनी, सब कुछ मानने को तैयार हूँ; पर उसे स्वच्छन्द नहीं देख सकता। अगर कोई स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, तो उसके लिए मेरे घर में स्थान नहीं है। अभी मिसेज़ शापूर की बातें सुनकर मैं दंग रह गया। मुझे इसकी कल्पना भी न थी कि कोई नारी मन में इतने विद्रोहात्मक भावों को स्थान दे सकती है।

मि० शापूरजी की गर्दन की नसें तन गईं। नथने फूल गये। कुरसी से उठकर बोले—अच्छा, तो अब शीरीं ने यह ढंग निकाला! मैं अभी उससे पूछता हूँ—आपके सामने पूछता हूँ—अभी फैसला कर डालूँगा। मुझे उसकी परवाह नहीं है। किसी की परवाह नहीं है। बेवफ़ा औरत! जिसके हृदय में ज़रा भी समवेदना नहीं, जो मेरे जीवन में ज़रा-सा आनन्द भी नहीं सह सकती! चाहती है, मैं उसके अञ्चल में बँधा-बँधा घूमूँ! शापूर से वह यह आशा रखती है? अभागिनी भूल जाती है कि आज मैं आँखों का इशारा कर दूँ, तो एक सौ एक शीरियाँ मेरी उपासना करने लगें! जी हाँ, मेरे इशारों पर नाचें। मैंने इसके लिए जो कुछ किया, बहुत कम पुरुष किसी स्त्री के लिए करते हैं। मैंने... मैंने...

उन्हें ख़याल आ गया कि वह ज़रूरत से ज़्यादा बहके जा रहे हैं। शीरीं की प्रेममय सेवाएँ याद आईं। रुककर बोले—लेकिन मेरा ख़याल है कि वह अब भी समझ से काम ले सकती है। मैं उसका दिल नहीं दुखाना चाहता। मैं यह भी जानता हूँ कि वह ज्यादा-से-ज्यादा जो कर

सकती है, वह शिकायत है। इसके आगे बढ़ने की हिमाक़त वह नहीं कर सकती। औरतों को मना लेना बहुत मुशकिल नहीं है। कम से कम मुझे तो यही तजरबा है।

कावसजी ने खण्डन किया—मेरा तजरबा तो कुछ और है।

'हो सकता है ; मगर आपके पास खाली बातें हैं, मेरे पास लक्ष्मी का आशीर्वाद है।'

'जब मन में विद्रोह के भाव जम गये, तो लक्ष्मी के टाले भी नहीं टल सकते।'

शापूरजी ने विचारपूर्ण भाव से कहा—शायद आपका विचार ठीक है।

(४)

कई दिन के बाद कावसजी की शीरीं से पार्क में मुलाक़ात हुई। वह इसी अवसर की खोज में थे। उनका स्वर्ग तैयार हो चुका था। केवल उसमें शीरीं को प्रतिष्ठित करने की कसर थी। उस शुभ दिन की कल्पना में वह पागल-से हो रहे थे। गुलशन को उन्होंने उसके मैके भेज दिया था। भेज क्या दिया था, वह रूठकर चली गई थी। जब शीरीं उनकी दरिद्रता का स्वागत कर रही है, तो गुलशन की खुशामद क्यों की जाय। लपककर शीरीं से हाथ मिलाया और बोले—आप ख़ूब मिलीं। मैं आज आनेवाला था।

शीरीं ने गिला करते हुए कहा—आपकी राह देखते-देखते आँखें थक गईं। आप भी ज़बानी हमदर्दी ही करना जानते हैं। आपको क्या ख़बर, इन कई दिनों में मेरी आँखों से कितने आँसू बहे हैं।

कावसजी ने शीरीं बानू की उत्कण्ठा-पूर्ण मुद्रा देखी, जो बहुमूल्य रेशमी साड़ी की आब से और भी दमक उठी थी, और उनका हृदय अंदर से बैठता हुआ जान पड़ा। उस छात्र की-सी दशा हुई जो आज

अंतिम परीक्षा पास कर चुका हो और जीवन का प्रश्न उसके सामने अपने भयंकर रूप में खड़ा हो। काश वह कुछ दिन और परीक्षाओं की भूलभूलैया में जीवन के स्वप्नों का आनन्द ले सकता। उस स्वप्न के सामने यह सत्य कितना डरावना था। अभी तक कावसजी ने मधु-मक्खी का शहद ही चखा था। इस समय वह उनके मुख पर मँडरा रही थी और वह डर रहे थे, कहीं डंक न मारे।

दबी हुई आवाज़ से बोले—मुझे यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ। मैंने तो शापूर को बहुत समझाया था।

शीरीं ने उनका हाथ पकड़कर एक बेंच पर बिठा दिया और बोली—उन पर अब समझाने-बुझाने का कोई असर न होगा। और मुझे ही क्या ग़रज़ पड़ी है कि मैं उनके पाँव सहलाती रहूँ। आज मैंने निश्चय कर लिया है, अब उस घर में लौटकर न जाऊँगी; अगर उन्हें अदालत में ज़लील होने का शौक़ है, तो मुझ पर दावा करें, मैं तैयार हूँ। मैं जिसके साथ नहीं रहना चाहती, उसके साथ रहने के लिए ईश्वर भी मुझे मजबूर नहीं कर सकता, अदालत क्या कर सकती है। अगर तुम मुझे आश्रय दे सकते हो, तो मैं तुम्हारी बनकर रहूँगी, जब तक तुम मेरे रहोगे; अगर तुममें इतना आत्म-बल नहीं है, तो मेरे लिए दूसरे द्वार खुल जायँगे। अब साफ़-साफ़ बतलाओ, क्या वह सारी सहानुभूति ज़बानी थी?

कावसजी ने कलेजा मज़बूत करके कहा—नहीं नहीं शीरीं, खुदा जानता है, मुझे तुमसे कितना प्रेम है। तुम्हारे लिए मेरे हृदय में स्थान है।

'मगर गुलशन को क्या करोगे?'

'उसे तलाक़ दे दूँगा।'

'हाँ, यही मैं भी चाहती हूँ। तो मैं तुम्हारे साथ चलूँगी, अभी, इसी दम। शापूर से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।'

कावसजी को अपने दिल में कम्पन का अनुभव हुआ। बोले—लेकिन अभी तो वहाँ कोई तैयारी नहीं है।

'मेरे लिए किसी तैयारी की ज़रूरत नहीं। तुम सब कुछ हो। एक टैक्सी ले लो। मैं इसी वक्त चलूँगी।'

कावसजी टैक्सी की खोज में पार्क से निकले। वह एकान्त में विचार करने के लिए थोड़ा-सा समय चाहते थे। इस बहाने से उन्हें समय मिल गया। उन पर अब जवानी का वह नशा न था, जो विवेक की आँखों पर छाकर बहुधा हमें गड्ढे में गिरा देता है। अगर कुछ नशा था, तो अब तक हिरन हो चुका था। वह किस फंदे में गला डाल रहे हैं, वह खूब समझते थे। शापूरजी उन्हें मिट्टी में मिला देने के लिए पूरा ज़ोर लगायेंगे, यह भी उन्हें मालूम था। गुलशन उन्हें सारी दुनिया में बदनाम कर देगी, यह भी वह जानते थे। यह सब विपत्तियाँ झेलने को वह तैयार थे। शापूर की ज़बान बन्द करने के लिए उनके पास काफ़ी दलीलें थीं। गुलशन को भी स्त्री-समाज में अपमानित करने का उनके पास काफ़ी मसाला था। डर था, तो यह कि शीरीं का यह प्रेम टिक सकेगा, या नहीं। अभी तक शीरीं ने केवल उनके सौजन्य का परिचय पाया है, केवल उनकी न्याय और सत्य और उदारता से भरी बातें सुनी हैं। इस क्षेत्र में शापूरजी से उन्होंने बाज़ी मारी है; लेकिन उनके सौजन्य और उनकी प्रतिभा का जादू उनके बेसरोसामान घर में कुछ दिन रहेगा, इसमें उन्हें सन्देह था। हलवे की जगह चुपड़ी रोटियाँ भी मिलें, तो आदमी सब्र कर सकता है। रूखी भी मिल जायँ, तो वह सन्तोष कर लेगा; लेकिन सूखी घास सामने देखकर तो ऋषि-मुनि भी जामे से बाहर हो जायँगे। शीरीं उनसे प्रेम करती है; लेकिन प्रेम के त्याग की भी तो सीमा है। दो-चार दिन भावुकता के उन्माद में वह सब्र कर ले; लेकिन भावुकता कोई टिकाऊ चीज़ तो नहीं है। वास्तविकता के आघातों के सामने यह भावुकता कै

दिन टिकेगी ! उस परिस्थिति की कल्पना करके कावसजी काँप उठे। अब तक वह रनिवास में रही है। अब उसे एक खपरैल का कॉटिज मिलेगा, जिसके फ़र्श पर क़ालीन की जगह टाट भी नहीं ; कहाँ वरदी-पोश नौकरों की पलटन, कहाँ एक बुढ़िया मामा की संदिग्ध सेवाएँ, जो बात-बात पर भुनभुनाती है, धमकाती है, कोसती है। उनका आधा वेतन तो संगीत सिखानेवाला मास्टर ही खा जायगा। और शापूरजी ने कहीं ज्यादा कमीनापन से काम लिया, तो उनको बदमाशों से पिटवा भी सकते हैं। पिटने से वह नहीं डरते। यह तो उनकी फतह होगी ; लेकिन शीरीं की भोग-लालसा पर कैसे विजय पायें। बुढ़िया मामा जब मुँह लटकाये आकर उसके सामने रोटियाँ और सालन परोस देगी, तब शीरीं के मुख पर कैसी विदग्ध विरक्ति छा जायगी। कहीं वह खड़ी होकर उनको और अपनी किस्मत को कोसने न लगे। नहीं, अभाव की पूर्ति सौजन्य से नहीं हो सकती। शीरीं का वह रूप कितना विकराल होगा !

सहसा एक कार सामने से आती दिखाई दी। कावसजी ने देखा—शापूरजी बैठे हुए थे। उन्होंने हाथ उठाकर कार को रुकवा लिया और पीछे दौड़ते हुए जाकर शापूरजी से बोले—आप कहाँ जा रहे हैं ?

'योंही, ज़रा घूमने निकला था।'

'शीरीं बानू पार्क में हैं, उन्हें लेते जाइये।'

'वह तो मुझसे लड़कर आई हैं, कि अब इस घर में कभी क़दम न रखूँगी।'

'और आप सैर करने जा रहे हैं !'

'तो क्या आप चाहते हैं बैठकर रोऊँ ?'

'वह बहुत रो रही हैं।'

'सच !'

'हाँ, बहुत रो रही हैं।'

'तो शायद उसकी बुद्धि जाग रही है।'

'तुम इस समय उन्हें मना लो, तो वह हर्ष से तुम्हारे साथ चली आयँ ।'

'मैं परीक्षा करना चाहता हूँ, कि वह बिना मनाये मानती है या नहीं।'

'मैं बड़े असमंजस में पड़ा हुआ हूँ। मुझ पर दया करो, तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ।'

'जीवन में जो थोड़ा-सा आनन्द है, उसे मनावन के नाट्य में नहीं छोड़ना चाहता।'

कार चल पड़ी और कावसजी कर्तव्य-भ्रष्ट-से वहीं खड़े रह गये। देर हो रही थी। सोचा—कहीं शीरीं यह न समझ ले कि मैंने भी उसके साथ दग़ा की ; लेकिन जाऊँ भी तो क्योंकर ? अपने सम्पादकीय कुटीर में उस देवी को प्रतिष्ठित करने की कल्पना ही उन्हें हास्यास्पद लगी। वहाँ के लिए तो गुलशन ही उपयुक्त है। कुढ़ती है, कठोर बातें कहती है, रोती है ; लेकिन वक्त से भोजन तो दे देती है, फटे हुए कपड़ों को रफ़ू तो कर देती है, कोई मेहमान आ जाता है, तो कितने प्रसन्न मुख से उसका आदर-सत्कार करती है, मानो उसके मन में आनन्द ही आनन्द है। कोई छोटी-सी चीज़ भी दे दो, तो कितना फूल उठती है। थोड़ी-सी तारीफ करके चाहे उससे गुलामी करवा लो। अब उन्हें अपना ज़रा-ज़रा-सी बात पर झुँझला पड़ना, उसकी सीधी-सी बातों का टेढ़ा जवाब देना, विकल करने लगा। उस दिन उसने यही तो कहा था कि उसकी छोटी बहन के सालगिरह पर कोई उपहार भेजना चाहिये। इसमें बरस पड़ने की कौन-सी बात थी। माना वह अपना सम्पादकीय नोट लिख रहे थे ; लेकिन उनके लिए सम्पादकीय नोट जितना महत्त्व रखता है, क्या गुलशन के लिए उपहार भेजना उतना ही या उससे ज्यादा महत्त्व नहीं रखता ? बेशक उनके पास उस समय रुपए न थे, तो क्या वह मीठे शब्दों में यह नहीं कह सकते थे कि डार्लिङ्ग, मुझे खेद है, अभी हाथ ख़ाली है, दो-चार रोज़ में मैं कोई प्रबन्ध कर दूँगा। यह जवाब सुनकर वह चुप हो जाती। और अगर

कुछ भुनभुना ही लेती, तो उनका क्या बिगड़ा जाता था। अपनी टिप्पणियों में वह कितनी शिष्टता का व्यवहार करते हैं। क़लम ज़रा भी गर्म पड़ जाय, तो गर्दन नापी जाय। गुलशन पर वह क्यों बिगड़ जाते हैं? इसी लिए कि वह उनके अधीन है और उन्हें रूठ जाने के सिवाय कोई दण्ड नहीं दे सकती। कितनी नीच कायरता है कि हम सबलों के सामने दुम हिलायें और जो हमारे लिए अपने जीवन का बलिदान कर रही है, उसे काटने दौड़ें।

सहसा एक ताँगा आता हुआ दिखाई दिया और सामने आते ही उस पर से एक स्त्री उतरकर उनकी ओर चली। अरे! यह तो गुल-शन है। उन्होंने आतुरता से आगे बढ़कर उसे गले लगा लिया और बोले—तुम इस वक्त यहाँ कैसे आई? मैं अभी-अभी तुम्हारा ही ख़याल कर रहा था।

गुलशन ने गद्गद् कण्ठ से कहा—तुम्हारे ही पास जा रही थी। शाम को बरामदे में बैठी तुम्हारा ही लेख पढ़ रही थी। न जाने कब झपकी आ गई और मैंने एक बुरा सपना देखा। मारे डर के मेरी नींद खुल गई और तुमसे मिलने चल पड़ी। इस वक्त यहाँ कैसे खड़े हो? कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई? रास्ते भर मेरा कलेजा धड़क रहा था।

कावसजी ने आश्वासन देते हुए कहा—मैं तो बहुत अच्छी तरह हूँ। तुमने क्या स्वप्न देखा?

'मैंने देखा—जैसे तुमने एक रमणी को कुछ कहा है और वह तुम्हें बाँधकर घसीटे लिये जा रही है।'

'कितना बेहूदा स्वप्न है; और तुम्हें इस पर विश्वास भी आ गया। मैं तुमसे कितनी बार कह चुका कि स्वप्न केवल चिन्तित मन की क्रीड़ा है।'

'तुम मुझसे छिपा रहे हो। कोई न कोई बात हुई है ज़रूर। तुम्हारा

चेहरा बोल रहा है । अच्छा, तुम इस वक्त यहाँ क्यों खड़े हो ? यह तो तुम्हारे पढ़ने का समय है ।'

'योंही, ज़रा घूमने चला आया था ।'

'झूठ बोलते हो । खा जाओ मेरे सिर की क़सम ।'

'अब तुम्हें एतबार ही न आये तो क्या करूँ ।'

'क़सम क्यों नहीं खाते ?'

'क़सम को मैं झूठ का अनुमोदन समझता हूँ ।'

गुलशन ने फिर उनके मुख पर तीव्र दृष्टि डाली । फिर एक क्षण के बाद बोली—अच्छी बात है । चलो घर चलें ।

कावसजी ने मुसकिराकर कहा—तुम फिर मुझसे लड़ाई करोगी ?

'सरकार से लड़कर तुम भी सरकार की अमलदारी में रहते हो कि नहीं ? मैं भी तुमसे लड़ूँगी ; मगर तुम्हारे साथ रहूँगी ।'

'हम इसे कब मानते हैं कि यह सरकार की अमलदारी है ।'

'यह तो तुम मुँह से कहते हो । तुम्हारा रोआँ-रोआँ इसे स्वीकार करता है नहीं तुम इस वक्त जेल में होते ।'

'अच्छा चलो, मैं थोड़ी देर में आता हूँ ।'

'मैं अकेली नहीं जाने की । आख़िर सुनूँ तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?'

कावसजी ने बहुत कोशिश की कि गुलशन यहाँ से किसी तरह चली जाय ; लेकिन वह जितना ही इस पर ज़ोर देते थे, उतना ही गुलशन का आग्रह भी बढ़ता जाता था । आख़िर मजबूर होकर कावसजी को शीरीं और शापूर के झगड़े का वृत्तान्त कहना ही पड़ा ; यद्यपि इस नाटक में उनका अपना जो भाग था, उसे उन्होंने बड़ी होशियारी से छिपा देने की चेष्टा की ।

गुलशन ने विचार करके कहा—तो तुम्हें यह सनक भी सवार हुई !

कावसजी ने तुरन्त प्रतिवाद किया—कैसी सनक ! मैंने क्या किया ?

अब यह तो इंसानियत नहीं है कि एक मित्र की स्त्री मेरी सहायता माँगे और मैं बग़लें झाँकने लगूँ।

'झूठ बोलने के लिए बड़ी अक्ल की ज़रूरत होती है प्यारे, और वह तुममें नहीं है। समझे। चुपके से जाकर शीरीं बानू को सलाम करो और कहो कि आराम से अपने घर में बैठें। सुख कभी सम्पूर्ण नहीं मिलता। विधि इतना घोर पक्षपात नहीं कर सकता। गुलाब में काँटे होते ही हैं। अगर सुख भोगना है, तो उसे उसके दोषों के साथ भोगना पड़ेगा। अभी विज्ञान ने कोई ऐसा उपाय नहीं निकाला कि हम सुख के काँटों को अलग कर सकें। मुफ़्त का माल उड़ानेवालों को ऐयाशी के सिवा और क्या सूझेगी? धन अगर सारी दुनिया का विलास न मोल लेना चाहे, तो वह धन ही कैसा। शीरीं के लिए भी क्या वह द्वार नहीं खुले हैं, जो शापूरजी के लिए खुले हैं? उससे कहो—शापूर के घर में रहे, उनके धन को भोगे और भूल जाय कि वह शापूर की स्त्री है, उसी तरह जैसे शापूर भूल गया है, कि वह शीरीं का पति है। जलना और कुढ़ना छोड़कर विलास का आनन्द लूटे। उसका धन एक से एक रूपवान् विद्वान् नवयुवकों को खींच लायेगा। तुमने ही एक बार मुझसे कहा था, कि एक ज़माने में फ्रांस में धनवान् विलासिनी महिलाओं का समाज पर आधिपत्य था। उनके पति सब कुछ देखते थे और मुँह खोलने का साहस न करते थे। और मुँह क्या खोलते। वे खुद इसी धुन में मस्त थे। यही धन का प्रसाद है। तुमसे न बने, तो चलो मैं शीरीं को समझा दूँ। ऐयाश मर्द की स्त्री अगर ऐयाश न हो तो यह उसकी कायरता है—लतखोरपन है!'

कावसजी ने चकित होकर कहा—लेकिन तुम भी तो धन की उपासक हो?

गुलशन ने शर्मिन्दा होकर कहा—यही तो जीवन का शाप है। हम उसी चीज़ पर लपकते हैं, जिसमें हमारा अमंगल है, सत्यानाश

है। मैं बहुत दिनों पापा के इलाक़े में रही हूँ। चारो तरफ़ किसान श्रौर मजूर रहते थे। बेचारे दिन भर पसीना बहाते थे, शाम को घर आते थे। ऐयाशी श्रौर बदमाशी का कहीं नाम न था। श्रौर यहाँ शहर में देखती हूँ, कि सभी बड़े घरों में यही रोना है। सब के सब हथकण्डों से पैसे कमाते हैं श्रौर अस्वाभाविक जीवन बिताते हैं। आज तुम्हें कहीं से धन मिल जाय, तो तुम भी शापूर बन जाश्रोगे, निश्चय।

'तब शायद तुम भी अपने बताये हुए मार्ग पर चलोगी, क्यों?'

'शायद नहीं, अवश्य।'

गृह-दाह

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपए खर्च किये थे। उसका विद्यारंभ-संस्कार भी खूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता, एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता, दिन भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था। गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दे, प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख-चन्द्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश स्त्री को लेकर गंगा-स्नान करने गये। नदी खूब चढ़ी हुई थी, मानो अनाथ की आँखें हों। उनकी पत्नी निर्मला जल में बैठकर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती,

कभी डुबकी मारती, कभी अँजुलियों से छींटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा, अब निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी। निर्मला ने कहा—कहो, तो मै छाती तक पानी में चली जाऊँ।

देवप्रकाश—और, जो कहीं पैर फिसल जाय!

निर्मला—पैर क्यों फिसलेगा!

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गई। पति ने कहा—अच्छा, अब आगे पैर न रखना; किन्तु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं—मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया, और फिसल गई। मुँह से एक चीख़ निकली; दोनो हाथ सहारे के लिए ऊपर उठे, और फिर जल-मग्न हो गये। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिए से देह पोंछ रहे थे। तुरन्त पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला; पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगवाई गई। मल्लाहों ने बार-बार ग़ोते मारे; पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आये। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया, और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्माँ कहाँ हैं?

देव०—बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिए रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा, और आशय समझ गया—अम्माँ, अम्माँ कहकर रोने लगा।

(२)

मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन से दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उनके जीवन का एक-मात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकान्त से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे उस सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे; माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गये। पिता की आँखों में वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छः महीने बीत गये। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नई माता आनेवाली है। दौड़ा हुआ पिता के पास गया और पूछा—क्या मेरी नई माता आयेंगी? पिता ने कहा—हाँ, बेटा, वह आकर तुम्हें प्यार करेंगी।

सत्य०—क्या मेरी मा स्वर्ग से आ जायँगी?

देव०—हाँ, वही आ जायँगी।

सत्य०—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्नमन रहने लगा। अम्माँ आयेंगी। मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी। अब मैं उन्हें कभी दिक़ न करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आये। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश ख़ुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्मा आयेंगी। बारात में वह भी गया। नये-नये कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अन्दर बुलाया और उसे गोद में लेकर एक अशरफी दी। वहीं उसे नई माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—बेटी, कैसा सुन्दर बालक है! इसे प्यार करना।

सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा, और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनों हाथों से उसका अञ्चल पकड़कर कहा—अम्माँ!

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जा-युक्त, कितना अप्रिय ! वह ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से संबोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का संबोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवनकाल की मदमय वायु तरंगों में आंदोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्माँ मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बाल-स्वप्न भंग हो गया। आँखें डबडबा गईं। नानी ने कहा—बेटी, देखो लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिये। अम्माँ कह दिया, तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई ?

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्माँ न कहे।

(३)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पण्डित ने नहीं किया, हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई थी, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनाती ; किन्तु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश ख़ूब उछला-कूदा और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा। सहसा देवप्रिया नें सरोष स्वर में कहा—ख़बरदार, इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।

बालक उलटे पाँव लौट आया और कोठे की छत पर जाकर ख़ूब रोया। कितना सुन्दर बच्चा है ! मैं उसे गोद में लेकर बैठता, तो कैसा मज़ा आता ! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्होंने मुझे झिड़क क्यों

दिया ? भोला बालक क्या जानता था, कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रखा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा, कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं ; केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर ही से डाँटा—हट जा वहाँ से !

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

संध्या समय उसके पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो ?

सत्य०—मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्मा खेलाने को नहीं देतीं।

देव०—झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी ?

सत्य०—जी नहीं, मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।

देव०—झूठ बोलता है !

सत्य०—मैं झूठ नहीं बोलता।

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाये। पहिली बार यह ताड़ना मिली और निरपराध ! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता ; पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की

भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता, न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि था। उसकी सफ़ाई और सलीक़े और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था। बाज़ार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौए लूटता। गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति गायब हो गई। देवप्रकाश को अब आये-दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा। यहाँ तक कि अगर वह कभी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर कहकर दौड़ते।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साए से भी बचाती रहती थी। दोनो लड़कों में कितना अन्तर था! एक साफ़-सुथरा, सुन्दर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला, सच बोलनेवाला। देखनेवालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाये हुए, मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौदा, प्रेम में प्लावित, स्नेह से सिंचित। दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लवहीन नव वृक्ष, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंढी होती, दूसरे को देखकर देह में आग लग जाती।

आश्चर्य यह था, कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेशमात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य-भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, कहीं भाग्यशाली समझता। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है ; प्रेम से प्रेम । ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था । कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी मा से वाद-विवाद कर बैठता । कहता, भैया की अचकन फट गई है ; आप नई अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं ? मा उत्तर देती—उसके लिए वही अचकन अच्छी है । अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा । ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था, कि अपने जेब-ख़र्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे ; पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता । वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शान्तिमय आनन्द का अनुभव होता । थोड़ी देर के लिए वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने लगता । उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती । एक क्षण के लिए उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती ।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया । पिता ने पूछा—तुम आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते ? क्या सोच रखा है, कि मैंने तुम्हारी ज़िंदगी भर का ठेका ले रखा है ?

सत्य०—मेरे ऊपर जुर्माने और फीस के कई रुपए हो गये हैं । जाता हूँ, तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ ।

देव०—फीस क्यों बाक़ी है ? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न ?

सत्य०—आये-दिन चंदे लगा करते हैं । फ़ीस के रुपए चन्दे में दे दिये ।

देव०—और जुर्माना क्यों हुआ ?

सत्य०—फीस न देने के कारण ।

देव०—तुमने चन्दा क्यों दिया ?

सत्य०—ज्ञानू ने चन्दा दिया, तो मैंने भी दिया ।

देव०—तुम ज्ञानू से जलते हो ?

सत्य०—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा ? यहाँ हम और वह दो हैं,

बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।

देव०—क्यों, यह कहते शर्म आती है?

सत्य०—जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।

देव०—अच्छा, तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं! यह क्यों नहीं कहते, कि पढ़ना अब मंजूर नहीं है। मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ; ऊपर से तुम्हारे ख़र्च के लिए भी प्रतिमास कुछ दूँ। ज्ञानबाबू तुमसे कितना छोटा है; लेकिन तुमसे एक ही दफा नीचे है। तुम इस साल ज़रूर ही फ़ेल होगे; वह ज़रूर ही पास होगा। अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी न?

सत्य०—विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।

देव०—तुम्हारे भाग्य में क्या है?

सत्य०—भीख माँगना।

देव०—तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ। देवप्रिया भी आ गई। बोली—शरमाता तो नहीं और बातों का जवाब देता है।

सत्य०—जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।

देवप्रिया—ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं खून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ।

देवप्रकाश—बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है, तो भीख ही माँगे।

(४)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब सोलह साल की हो गई थी। इतनी बातें सुनने के बाद उसे घर में रहना असह्य हो गया था। अब तक हाँथ-पाँव न थे, किशो-

रावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गये थे, उस बन्धन में क्यों रहता। आत्माभिमान आशा की भाँति चिरंजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे; दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बग़ल में दबाई; एक छोटा-सा बेग हाथ में लिया और चाहता था, कि चुपके से बैठके से निकल जाय, कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देख बोला—कहाँ जाते हो, भैया?

सत्य०—जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।

ज्ञानू—मैं जाकर अम्माँ से कहे देता हूँ।

सत्य०—तो फिर मैं तुमसे भी छिपाकर चला जाऊँगा।

ज्ञानू—क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी ज़रा भी मुहब्बत नहीं?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता; लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा, और पेट पालता रहूँगा। किस लायक़ हूँ।

ज्ञानू—तुमसे अम्माँ क्यों इतना चिढ़ती हैं? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं।

सत्य०—मेरे नसीब खोटे हैं और क्या।

ज्ञानू—तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते?

सत्य०—लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूँ—उँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से!

ज्ञानू—मुझे भूल तो नहीं जाओगे? मैं तुम्हारे पास ख़त लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।

सत्य०—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।

ज्ञानू—(रोते-रोते) मुझे न जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।

सत्य०—मैं तुम्हें सदैव याद रखूँगा।

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था।

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तांत लिखना व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा के क़िले बना सकते हैं—धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उसने निश्चय कर लिया था, कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बेग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है, और सरल भी। सरल है उनके लिए, जो हाथ से काम कर सकते हैं, कठिन है उनके लिए जो क़लम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मज़दूरी करना नीच काम समझता था। उसने धर्मशाला में असबाब रखा, बाद को शहर के मुख्य-मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाक-घर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मज़दूरों की चिट्ठियाँ, मनीआर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसको इतने पैसे न मिले, कि पेट भर भोजन करता; लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मज़दूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता, कि बस, वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो तीन-तीन बार लिखाते हैं। उनकी दशा ठीक उन रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तान्त कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मज़दूरों को मुग्ध कर

देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे एक रुपया रोज़ मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर पाँच रुपए महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक वक़्त बनाता, दोनों वक़्त खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। ज़मीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर ज़रा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर सन्तुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेम-युक्त बातें न भूलतीं। अन्धकार में यही एक प्रकाश था। बिदाई का अन्तिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिन्त होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसके आनन्द की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वह तृप्ति उस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है।

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिन्ता हुई कि ज्ञानू के लिए कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-कबाब की भी ठहरी। आइना, तेल, कंघी का शौक़ भी पैदा हुआ, जो कुछ पाता उड़ा देता; बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिये। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा, मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा, धन-संचय की चिंता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया, कि एक अच्छी-सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से-कम चालीस रुपया होगा; अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अप-

व्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा ख़ुश होगा। अम्माँ और बाबूजी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा, कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफ़ायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सवेरे काम करने चला जाता, और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उसके पास पचास रुपए एकत्र हो गये; और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानो किसी निस्संतान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जागृत कर देता है! यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है; प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की यही वह लहर है, जो मानव-जीवन-मात्र को स्थिर रखती है। उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है। यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का घर कहाँ था? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी।—माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिंता?—नहीं उसका रक्षक, उद्धारक, उसका परितोषक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफ़ायत करता—उसी के लिए वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नये-नये उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से

मालूम हुआ, कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है; इसलिए अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिए घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पाँच वर्ष बीत गये। रसिक मित्रों ने जब यह देखा कि यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

(८)

संध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के संबंध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब सत्रह वर्ष का सुन्दर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ मुहूर्त को न टाल सकते थे। विशेषतः जब कोई महाशय पाँच हज़ार रुपया दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूँ; लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।

देवप्रिया—तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।

देवप्रकाश—ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं है, यह सिद्धान्त का इनकार है। वह साफ़-साफ़ कह रहा है, कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राज़ी नहीं हूँ।

देवप्रिया—उसकी कौन चलावे, वहाँ कोई रखैल रख ली होगी। विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है?

देवप्रकाश—(झुँझलाकर) रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को चालीस रुपए महीने न भेजता और न वे चीज़ें ही देता, जिन्हें पहले

महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है। चाहे वह जान निकालकर भी दे दे ; लेकिन तुम न पसीजोगी।

देवप्रिया नाराज़ होकर चली गई। देवप्रकाश उससे यही कहलाया चाहते थे, कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है ; किन्तु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी, कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें ; पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिए क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है, कि तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह विनय स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अन्त में इस बात पर ज़ोर दिया, कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बन्धन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृ-स्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इसके साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनन्द हुआ, कि अम्माँ और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिन्ता थी ? मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनकी आँखों में आँसू न आयें। सात वर्ष हो गये, कभी भूल-कर भी पत्र न लिखा, मरा है या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अन्त में विवाह करने पर राज़ी तो हो जायगा ; लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है ; लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक

जीवन सम्पूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँसकर मनुष्य अपनी प्यारी संतान का शत्रु हो जाता है। न, मैं आँखों देखकर यह जीती मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूँगा। बस, इससे ज्यादा मैं कुछ भी नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अविवाहित रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंश-परंपरा का पालन न करेगा? क्या उसके जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने पाँच सौ रुपए पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा, कि मेरा अहोभाग्य, जो आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई! इन रुपयों से नववधू के लिए कोई आभूषण बनवा दीजियेगा। रही मेरे विवाह की बात, सो मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुम्ब-पाश में फसूँ, तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा, कि माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धिहीन आदमी हूँ। मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा; लेकिन मेरे लिए इससे बढ़कर आनन्द और संतोष का विषय नहीं हो सकता।

(९)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गये। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—यह लौंडा देखने

ही को सीधा है, है ज़हर का बुझाया हुआ ! सौ कोस पर बैठा हुआ बर्छियों से कैसा छेद रहा है !

किंतु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा । दादा और अम्माँ के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है । इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिए । न जाने अम्माँ को इनसे क्यों इतनी जलन हुई । मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गम्भीर थे । उन्हें अम्माँ की बातों का जवाब देते नहीं सुना । मैं अच्छे से अच्छा खाता था, फिर भी उनके तेवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना चाहिये था । ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य-जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या ? फिर मैं ही क्यों इस विपत्ति में फँसूँ ? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े । भैया ने बहुत सोच-समझकर यह धारणा की है ।

संध्या समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए उसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा ।

देवप्रिया—क्या कलकत्ते जाओगे ?

ज्ञान०—जी, हाँ ।

देव०—उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते ?

ज्ञान०—उन्हें कौन मुँह लेकर बुलाऊँ ? आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है । ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है, और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि—

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर नमक मत छिड़क ! माता-पिता का धर्म है इसलिए कहती हूँ, नहीं तो यहाँ ठेंगे को परवा नहीं है । तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह ; पर मेरी आँखों से दूर हो जा ।

ज्ञान०—क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई ?

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे रह। हम भी समझ लेंगे, कि भगवान ने लड़का ही नहीं दिया।

देव०—क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो ?

ज्ञान०—अगर आप लोगों की यह इच्छा है, तो यही होगा।

देवप्रकाश ने देखा, कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया, और पत्नी के क्रोध को शांत करने की चेष्टा करने लगे ; मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी, बार-बार कहती थी—मैं इसकी सूरत न देखूँगी। अन्त को देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—तो तुम्हीं ने तो कटु वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उद्योग कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिए उसने यह प्रेम का स्वाँग रचा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ। उसका यह मन्त्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा ; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।

देव०—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा ? अभी ग़ुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। ज़रा शांत हो जायगा, तो मैं समझाकर राज़ी कर दूँगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—तुम्हारी माता इस शोक में मर जायगी ; किन्तु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' कहकर, 'हाँ' न की। निदान पिता भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों यह प्रश्न उठता रहा ; पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल था। माता का रोना-धोना निष्फल

हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनो कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाये लेता था। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को ख़ूब जी भर कोसती ; मगर दोनो भाइयों में प्रेम-पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी, और प्रायः धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय में अध्यापक हो गये थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिए नित्य टोने-टोकने किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुन्दर है, गुण-वती है, सुशिक्षिता है—उनका बखान किया करती ; पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फ़ुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलज़ार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे ; यह चहल-पहल देखकर देव-प्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिन हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा। भगवान्, ऐसा भी कोई दिन आवेगा, कि मैं अपनी बहू का मुख-चन्द्र देखूँगी, बालकों को गोद में खिलाऊँगी? वह भी कोई दिन होगा, कि मेरे घर में भी आनन्दोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी? रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गई।

आप ही आप सत्यप्रकाश को कोसने लगी—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यन्त रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज़ हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता, कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाये देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा, और उसमें जितना कोसते बना, कोसा—तू मेरे प्राणों का बैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आयेगा, कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण-मंत्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा, यहाँ तक कि यह उसका नित्य का कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी में सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता। इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाकघर भिजवा दिया करती थी।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिए घातक हो गया। परदेश में उसे यही संतोष हुआ था, कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ। अब वह अवलम्ब जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने ज़ोर देकर लिखा—अब आप मेरे लिए कोई कष्ट न उठायें। मुझे अपनी गुज़र करने के लिए काफ़ी से ज्यादा मिलने लगा है।

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान ख़ूब चलती थी; लेकिन कलकत्ते-जैसे शहर में एक छोटे-से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। साठ-सत्तर रुपए की मासिक आमदनी होती ही क्या है। अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी; बल्कि त्याग था। एक वक़्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग सीलन की कोठरी में रहकर बीस-पचीस रुपए बच रहते थे। अब दोनो वक़्त भोजन मिलने लगा। कपड़े

भी ज़रा साफ़ पहनने लगा ; मगर थोड़े ही दिनों में उसके ख़र्च में औषधियों की एक मद बढ़ गई। फिर वही पहले की-सी दशा हो गई। बरसों तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है। किसी अवलम्ब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है, कोई आश्रय ढूँढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सवेरा हो जाता। कभी बाज़ार से पूरियाँ लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता ; पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाज़ारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थककर चूर-चूर हो जाता। उस वक़्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता ; पर वहाँ निशांधकार के सिवा और कौन था ? दीवारों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था ; पर एक अध्यापक के लिए भावुकता कब शोभा देती है ? शनैः-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा, कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिए आना असम्भव था ? मेरे लिए तो घर का द्वार बन्द है ; पर उसे कौन-सी बाधा है ? उस ग़रीब को क्या मालूम, कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से 'कलकत्ते 'न जाने की क़सम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं ; पर मनुष्यता विरले ही में होती है। सत्यप्रकाश उस बहुसंख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में

अब एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ ? किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ ? वह सुख और शान्ति और कहाँ मिल सकती है ? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है ? वह इस आवेश को अपनी सम्पूर्ण विचार-शक्ति से रोकता ; पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रखी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिन्ताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुखों से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती ? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी थी क्या ? क्या मैं श्रम से जी चुराता था ? अगर बालपन ही में मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि-शक्तियों का गला न घोट दिया गया होता, तो मैं भी आज आदमी होता ; पेट पालने के लिए इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं ; मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दूकान में आकर चूल्हा जलाने जा रहा था, कि डाकिये ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उसका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों ? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा, और वह सिर थामकर बैठ गया, कि ज़मीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विषयुक्त लेखनी से निकला हुआ ज़हर का तीर था, जिसने एक पल में उसे संज्ञाहीन कर दिया। उसकी सारी मर्मान्तक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठण्डी साँस में समाप्त हो गई।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा। मानसिक व्यथा आप से आप पानी हो गई। हाँ ! सारा जीवन नष्ट हो गया। मैं ज्ञानप्रकाश का

शत्रु हूँ ? मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन को मिट्टी में मिलाने के लिए ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूँ ? भगवन् ! तुम्हीं इसके साक्षी हो।

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा। सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला। पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका भी वही अन्त हुआ। फिर तो वह एक नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता और फाड़ दिया जाता ; किन्तु देवप्रिया का अभिप्राय बिना पढ़े ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उसने दूकान बन्द कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते, जब माता पुचकारकर गोद में बिठा लेती, और कहती—बेटा ! पिता संध्या समय दफ्तर से आकर गोद में उठा लेते, और कहते—भैया ! माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती, ठीक वैसी ही जब वह गंगा-स्नान करने गई थी। उसकी प्यार भरी बातें कानों में गूँजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता, जब उसने नववधू माता को 'अम्माँ' कह-कर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते, उसे अपना सिसक-सिसककर रोना याद आ जाता। फिर सौर-गृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था। तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय ! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया ! ऐसी कितनी ही घटनाएँ याद आतीं। अब बिना किसी अपराध के मा डाँट बताती, पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने लगता। उनका बात-बात पर त्योरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना—हाय ! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया ! तब वह कर-वट बदल लेता, और फिर वही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर कर-

खट बदलता और चिल्ला उठता—'इस जीवन का अन्त क्यों नहीं हो जाता !' इस भाँति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गये। संध्या हो गई थी, कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज़ सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर सुना, और चौंक पड़ा—कोई परिचित आवाज़ थी। दौड़ा द्वार पर आया, तो देखा ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था। वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनो भाई घर में आये। अन्धकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञान-प्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखें देखता और रोता था।

सत्यप्रकाश ने कहा—मैं आजकल बीमार हूँ।

ज्ञानप्रकाश—यह तो देख ही रहा हूँ।

सत्य०—तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला ?

ज्ञान०—सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।

सत्य०—अच्छा, हाँ, दी होगी, पत्र दूकान में डाल गया होगा। मैं इधर कई दिनों से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है ?

ज्ञान०—माताजी का देहान्त हो गया।

सत्य०—अरे ! क्या बीमार थीं ?

ज्ञान०—जी नहीं। मालूम नहीं क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु वचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।

सत्य०—पिताजी तो कुशल से हैं ?

ज्ञान०—हाँ, अभी मरे नहीं हैं।

सत्य०—अरे ! क्या बहुत बीमार हैं ?

ज्ञान०—माता ने विष खा लिया, तो वह उनका मुँह खोलकर दवा पिला रहे थे। माताजी ने ज़ोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं, किसी को देखते हैं, तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।

सत्य०—तब तो घर ही चौपट हो गया !

ज्ञान०—ऐसे घर को अब से बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिये था।

तीसरे दिन दोनों भाई प्रातःकाल कलकत्ते से बिदा होकर चल दिये।

तथ्य

वह भेद अमृत के मन में हमेशा ज्यों का त्यों बना रहा और कभी न खुला। न तो अमृत की नज़रों से, न उसकी बातों से और न रंग-ढंग से ही पूर्णिमा को कभी इस बात का नाम को भी भ्रम हुआ कि साधारण पड़ोसियों का जिस तरह बरताव होना चाहिये और लड़कपन की दोस्ती का जिस तरह निबाह होना चाहिये, उसके सिवा अमृत का मेरे साथ और भी किसी प्रकार का सम्बन्ध है या हो सकता है। बेशक जब वह घड़ा लेकर कूएँ पर पानी खींचने के लिए जाती थी, तब अमृत भी ईश्वर जाने कहाँ से वहाँ आ पहुँचता था और ज़बरदस्ती उसके हाथ से घड़ा छीनकर उसके लिए पानी खींच देता था, और जब वह अपनी गाय को सानी देने लगती थी, तब वह उसके हाथ से भूसे की टोकरी ले लेता था और गाय की नाँद में सानी डाल देता था। जब वह बनिये की दूकान पर कोई चीज़ लेने जाती थी, तब अमृत भी अक्सर उसे रास्ते में मिल जाया करता था और उसका काम कर देता था।

पूर्णिमा के घर में कोई दूसरा लड़का या आदमी नहीं था। उसके

पिता का कई साल पहले परलोक-वास हो चुका था और उसकी मा परदे में रहती थी। जब अमृत पढ़ने जाने लगता तब पूर्णिमा के घर जाकर पूछ लिया करता कि बाज़ार से कुछ मँगवाना तो नहीं है। उसके घर में खेती-बारी होती थी, गाएँ-भैसें थीं और बाग़-बग़ीचे भी थे। वह अपने घरवालों की नज़र बचाकर फ़सल की चीज़ें सौग़ात के तौर पर पूर्णिमा के घर दे आता था। लेकिन पूर्णिमा उसकी इन ख़ातिरदारियों को उसकी भल-मनसत और खाने-पीने से सन्तुष्ट होने के सिवा और क्या समझे और क्यों समझे? एक गाँव में रहनेवाले चाहे किसी प्रकार का रक्त-सम्बन्ध या कोई रिश्तेदारी न रखते हों लेकिन फिर भी गाँव के रिश्ते से भाई-बहन तो होते ही हैं। इसलिए इन ख़ातिरदारियों में कोई ख़ास बात न थी।

एक दिन पूर्णिमा ने उससे कहा भी, कि तुम दिन भर मदरसे रहते हो, मेरा जी घबराता है।

अमृत ने सीधी तरह से कह दिया—क्या करूँ, इम्तहान पास आ गया है।

'मैं सोचा करती हूँ कि जब मैं चली जाऊँगी, तब तुम्हें कैसे देखूँगी और तुम क्यों मेरे घर आओगे।'

अमृत ने घबराकर पूछा—कहाँ चली जाओगी?

पूर्णिमा लजा गई। फिर बोली—जहाँ तुम्हारी बहनें चली गईं, जहाँ सब लड़कियाँ चली जाती हैं।

अमृत ने निराश भाव से कहा—अच्छा, वह बात!

इतना कहकर अमृत चुप हो गया। अभी तक यह बात कभी उसके ध्यान में ही नहीं आई थी कि पूर्णिमा कहीं चली भी जायगी। इतनी दूर तक सोचने की उसे फ़ुरसत ही नहीं थी। प्रसन्नता तो वर्त्तमान में ही मस्त रहती है। यदि भविष्य की बातें सोचने लगे तो फिर प्रसन्नता ही क्यों रहे?

और अमृत जितनी जल्दी इस दुर्घटना के होने की कल्पना कर सकता था, उससे पहले ही यह दुर्घटना एक ख़बर के रूप में सामने आ ही गई। पूर्णिमा के ब्याह की एक जगह बातचीत हो गई। अच्छा दौलतमन्द ख़ानदान था और साथ ही इज़्ज़तदार भी। पूर्णिमा की मा ने उसे बहुत खुशी से मंजूर भी कर लिया। ग़रीबी की उस हालत में उसकी नज़रों में जो चीज़ सबसे ज़्यादा प्यारी थी, वह दौलत थी। और यहाँ पूर्णिमा के लिए सब तरह से सुखी रहकर ज़िन्दगी बिताने के सब सामान मौजूद थे। मानो उसे मुँह-माँगी मुराद मिल गई हो। इससे पहले वह मारे फ़िक्र के घुली जाती थी। लड़की के ब्याह का ध्यान आते ही उसका कलेजा धड़कने लगता था। अब मानो परमात्मा ने अपने एक ही कटाक्ष से उसकी सारी चिन्ताओं और विकलताओं का अन्त कर दिया।

अमृत ने सुना तो उसकी हालत पागलों की-सी हो गई। वह बेतहाशा पूर्णिमा के घर की तरफ़ दौड़ा, मगर फिर लौट पड़ा। होश ने उसके पैर रोक दिये। वह सोचने लगा कि वहाँ जाने से क्या फ़ायदा? आख़िर उसमें उसका क़सूर ही क्या है? और किसी का क्या क़सूर है? अपने घर आया और मुँह ढँककर लेट रहा। पूर्णिमा चली जायगी। फिर वह कैसे रहेगा? वह विचलित-सा होने लगा। वह ज़िन्दा ही क्यों रहे? ज़िन्दगी में रखा ही क्या है? लेकिन यह भाव भी दूर हो गया। और उसका स्थान लिया उस निस्तब्धता ने, जो तूफ़ान के बाद आती है। वह उदासीन हो गया। जब पूर्णिमा जाती ही है, तो अब वह उसके साथ कोई सम्बन्ध क्यों रखे? क्यों मिले-जुले? और अब पूर्णिमा को उसकी परवाह ही क्यों होने लगी? और परवाह थी ही कब? वह आप ही उसके पीछे कुत्तों की तरह दुम हिलाता रहता था। पूर्णिमा ने तो कभी बात भी नहीं पूछी। और अब उसे क्यों न अभिमान हो? एक लखपती की स्त्री बनने जा रही है। शौक़ से बने।

अमृत भी ज़िन्दा रहेगा। मरेगा नहीं। यही इस ज़माने की वफ़ादारी की रस्म है।

लेकिन यह सारी तेज़ी दिल के अन्दर ही अन्दर थी और निरर्थक थी। भला उसमें इतनी हिम्मत कहाँ थी कि जाकर पूर्णिमा की मा से कह दे कि पूर्णिमा मेरी है और मेरी ही रहेगी? ग़ज़ब हो जायगा। गाँव में आफ़त मच जायगी। ऐसी बातें गाँव की कहानियों ने कभी सुनी हैं और देहातों ने कभी देखी हैं?

और पूर्णिमा का यह हाल था कि दिन भर उसका रास्ता देखा करती थी। वह सोचती थी कि वह क्यों मेरे दरवाज़े से होकर निकल जाता है और क्यों अन्दर नहीं आता? कभी रास्ते में मुलाक़ात हो जाती है तो मानो उसकी परछाँही से भागता है। वह पानी की कलसी लेकर कूएँ पर खड़ी रहती है और सोचती है कि वह आता होगा। लेकिन वह कहीं दिखाई ही नहीं देता।

एक दिन वह उसके घर गई और उससे जवाब माँगा। उसने पूछा—तुम आजकल आते क्यों नहीं? बस उसी समय उसका गला भर आया। उसे याद आ गया कि अब वह इस गाँव में थोड़े ही दिनों की मेहमान है।

लेकिन अमृत चुपचाप ज्यों का त्यों बैठा रहा। लापरवाही से उसने सिर्फ़ इतना कहा—इम्तहान पास आ गया है। फ़ुरसत नहीं मिलती।

फिर कुछ ठहरकर उसने कहा—सोचता हूँ कि जब तुम जा ही रही हो...। वह कहना ही चाहता था कि—तो फिर अब मुहब्बत क्यों बढ़ाऊँ! मगर उसे ध्यान आ गया कि यह बहुत मूर्खता की बात है। अगर कोई रोगी मरने जा रहा हो, तो क्या इसी विचार से उसका इलाज छोड़ दिया जाता है कि वह मरेगा ही? इसके विपरीत ज्यों-ज्यों उसकी हालत और भी ज्यादा खराब होती जाती है, त्यों-त्यों लोग

और भी अधिक तत्परता से उसकी चिकित्सा करते हैं। और जब उसका अन्तिम समय आ जाता है, तब तो दौड़-धूप की हद ही नहीं रहती। उसने बात का रुख बदलकर कहा—सुना है, वह लोग भी बहुत मालदार हैं।

पूर्णिमा ने उसके ये अन्तिम शब्द शायद सुने ही नहीं या उनका जवाब देने की ज़रूरत नहीं समझी। उसके कानों में तो जवाब का पहला हिस्सा ही गूँज रहा था।

उसने बहुत ही दुःख-पूर्ण भाव से कहा—तो इसमें मेरा क्या क़सूर है? मैं अपनी खुशी से तो जा नहीं रही हूँ। जाना पड़ता है, इसलिए जा रही हूँ।

यह कहते-कहते मारे लज्जा के उसका चेहरा लाल हो गया। जितना उसे कहना चाहिये था, शायद उससे ज्यादा वह कह गई थी।

मुहब्बत में भी शतरंज की-सी चालें होती हैं। अमृत ने उसकी तरफ़ इस तरह देखा कि मानो वह इस बात की जाँच करना चाहता है कि इन शब्दों में कुछ अर्थ भी है या नहीं। क्या अच्छा होता कि उसकी आँखों में आर-पार देखने की शक्ति होती! इस तरह तो सभी लड़कियाँ निराश भाव से बातें करती हैं। मानो ब्याह होते ही उनकी जान पर आ बनेगी। मगर सभी लड़कियाँ एक न एक दिन अच्छे-अच्छे गहने और कपड़े पहनकर और पालकी में बैठकर चली जाती हैं। इन बातों से उसको कोई सन्तोष नहीं हुआ।

फिर डरते-डरते बोला—तब तुम्हें मेरी याद क्यों आयेगी?

उसके माथे पर पसीना आ गया। उसे ऐसी बेढब शरमिन्दगी हुई कि जी चाहा कि कमरे से बाहर भाग जाऊँ। पूर्णिमा की ओर देखने की हिम्मत भी नहीं हुई। कहीं वह समझ न गई हो।

पूर्णिमा ने सिर झुकाकर मानो अपने दिल से कहा—तुम मुझे इतना निर्मोही समझते हो! मैं बेक़सूर हूँ और तुम मुझसे रूठते हो?

तुम्हें तो इस समय मेरे साथ सहानुभूति होनी चाहिये थी। तुम्हें उचित था कि तुम मुझे ढारस देते। और तुम मुझसे तने बैठे हो। तुम्हीं बतलाओ कि मेरे लिए और कौन-सा दूसरा रास्ता है? जो मेरे अपने हैं, वही मुझे ग़ैरों के घर भेज रहे हैं। वहाँ मुझ पर क्या बीतेगी? मेरी क्या हालत होगी? क्या यही ग़म मेरी जान लेने के लिए काफ़ी नहीं है जो तुम उसमें अपना ग़ुस्सा भी मिलाये देते हो?

उसका गला फिर भर आया। आज पूर्णिमा को इस प्रकार दुःखी और उदास देखकर अमृत को विश्वास हो गया कि इसके अन्दर भी एक छिपी हुई वेदना है। उसका ओछापन और स्वार्थपरता मानो कालिख बनकर उसके चेहरे पर चमकने लगी। पूर्णिमा के इन शब्दों में पूरी सत्यता थी। और साथ ही कितनी फटकार और कितना अपनापन भी भरा हुआ था। जो पराये हों, उनसे कोई शिकायत ही क्यों करे? अवश्य ही ऐसी अवस्था में उसे पूर्णिमा को ढारस दिलाना चाहिये था। यह उसका कर्त्तव्य था और यह कर्त्तव्य उसे बहुत प्रसन्नता के साथ पूरा करना चाहिये था। पूर्णिमा ने प्रेम का एक नया आदर्श उसके सामने रख दिया था और उसका विवेक इस आदर्श से बचकर नहीं निकलने देता था। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेम भी एक स्वार्थ-त्याग है, परन्तु बहुत बड़ा और जिगर को जलानेवाला है।

उसने लज्जित होकर कहा—माफ़ करो, पूर्णिमा! मेरी भूल थी; बल्कि बेवकूफ़ी थी।

[२]

पूर्णिमा का ब्याह हो गया। अमृत जी-जान से उसके ब्याह के प्रबन्ध में लगा रहा। दूल्हा अधेड़ था। तोंदल और भोंडा था और साथ ही बहुत घमंडी और बद-मिज़ाज़ भी था। लेकिन अमृत ऐसी तत्परता से उसकी ख़ातिरदारी कर रहा था कि मानो वह कोई देवता हो और उसकी एक ही मुस्कुराहट उसे स्वर्ग में पहुँचा देगी। पूर्णिमा

के साथ बातचीत करने का अमृत को अवसर ही नहीं मिला। और न उसने अवसर निकालने का कोई प्रयत्न ही किया। वह पूर्णिमा को जब देखता था, तब वह रोती ही रहती थी। और अमृत आँखों की ज़बान से जहाँ तक हो सकता था, बिना कुछ कहे ही उसे जितना ढारस और तसल्ली दे सकता था वह देता था और उसके प्रति सहानुभूति दिखलाता था।

तीसरे दिन पूर्णिमा रो-धोकर ससुराल के लिए बिदा हो गई। अमृत ने उसी दिन शिवजी के मन्दिर में जाकर और परम निष्ठा तथा भक्ति से भरे हुए दिल से प्रार्थना की कि पूर्णिमा सदा सुखी रहे। जब नया और ताज़ा ग़म हो, तो फिर इधर-उधर के और फ़ालतू विचारों का भला कहाँ प्रवेश हो सकता है! दुःख तो आत्मा के रोगों का नाशक है। परन्तु मन में उसे एक तरह की शून्यता का अनुभव हो रहा था। मानो अब उसका जीवन उजाड़ हो गया था। अब उसका कोई उद्देश्य या कोई कामना नहीं रह गई थी।

[३]

तीन बरस बाद पूर्णिमा फिर मैके आई। इस बीच में अमृत का भी ब्याह हो गया था और वह जीवन का जूआ गरदन पर रखे हुए लकीर पीटता चला जा रहा था। परन्तु उसके मन में एक ऐसी अस्पष्ट-सी वासना दबी हुई थी, जिसे वह कोई स्पष्ट रूप नहीं दे सकता था। वह वासना थरमामीटर के पारे की तरह उसके अन्दर सुरक्षित थी। अब पूर्णिमा ने आकर उसमें गरमी पैदा कर दी थी। और वह पारा चढ़कर सरसाम की सीमा तक जा पहुँचा था। उसकी गोद में दो बरस का एक प्यारा-सा बच्चा था। अमृत उस बच्चे को दिन-रात मानो गले से बाँधे रहता था। वह सवेरे और सन्ध्या उसे गोद में लेकर टहलने जाया करता था। और उसके लिए बाज़ार से तरह-तरह के खिलौने और मिठाइयाँ लाया करता था। सवेरा होते ही उसके जलपान के लिए

हलुआ और दूध लेकर पहुँच जाता था। उसे नहलाता-धुलाता और उसके बाल साफ़ करता था। उसके फोड़े-फुंसियाँ धोकर उन पर मलहम लगाता था। ये सभी सेवाएँ उसने अपने ज़िम्मे ले ली थीं। बच्चा भी उसके साथ इतना हिल-मिल गया था कि पल भर के लिए भी उसका गला न छोड़ता था। यहाँ तक कि कभी-कभी उसीके पास सो भी जाता था। और पूर्णिमा के आकर बुलाने पर भी उसके साथ नहीं जाता था।

अमृत पूछता—तुम किसके बेटे हो?

बच्चा कहता – टुमाले।

अमृत मारे आनन्द के मतवाला होकर उसे गले से लगा लेता था।

पूर्णिमा का रूप अब और भी निखर आया था। कली खिलकर फूल हो गई थी। अब उसके स्वभाव में कुछ अहंमन्यता और अभिमान आ गया था और साथ ही बनाव-सिंगार से प्रेम भी हो गया था। सोने के गहनों से सजकर और रेशमी साड़ी पहनकर अब वह और भी अधिक आकर्षक हो गई थी। और ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह अमृत से कुछ बचना चाहती है। बिना कोई विशेष आवश्यकता हुए उसके साथ बहुत कम बोलती है। और जो कुछ बोलती भी है, वह इस ढंग से बोलती है कि मानो अमृत पर कोई एहसान कर रही है। अमृत उसके बच्चे के लिए इतनी जान देता है और उसकी फ़रमाइशों को कितने शौक से पूरा करता है लेकिन ऊपर से देखने पर यही जान पड़ता था कि पूर्णिमा की निगाहों में उसकी इन सब सेवाओं का कोई मूल्य ही नहीं था। मानो सेवा करना अमृत का कर्तव्य ही है और वह कर्तव्य उसे पूरा करना चाहिये। इसके लिए वह किसी प्रकार के धन्यवाद या कृतज्ञता का अधिकारी नहीं है!

जब बच्चा रोता है, तब वह उसे धमकाती है कि ख़बरदार, रोना

नहीं। नहीं तो मामाजी तुमसे कभी न बोलेंगे। और इतना सुनते ही बच्चा चुप हो जाता है।

जब उसे किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तब वह अमृत को बुलाकर मानो आज्ञा के रूप में उससे कह देती है। और अमृत भी तुरन्त उस आज्ञा का पालन करता है। मानो वह उसका ग़ुलाम हो। और वह भी शायद यही समझती है कि मैंने अमृत से गुलामी का पट्टा लिखा लिया है।

छः महीने मैके रहकर पूर्णिमा फिर ससुराल चली गई। अमृत उसे पहुँचाने के लिए स्टेशन तक आया था। जब वह गाड़ी में बैठ गई तब अमृत ने बच्चा उसकी गोद में दे दिया। अमृत की आँखों से आँसू की बूँद टपक पड़ी और उसने मुँह फेर लिया और आँखों पर हाथ फेरकर आँसू पोंछ डाला। पूर्णिमा को अपने आँसू कैसे दिखलाये? क्योंकि उसकी आँखें तो बिल्कुल खुश्क थीं। लेकिन फिर भी उसका जी नहीं मानता था। वह सोचता था कि न जाने अब फिर कब मुलाक़ात हो।

पूर्णिमा ने कुछ अभिमान के साथ कहा—बच्चा कई दिन तक तुम्हारे लिए बहुत हुड़केगा।

अमृत ने भरे हुए गले से कहा—मुझे तो उम्र भर भी इसकी सूरत नहीं भूलेगी।

'कभी-कभी एकाध पत्र तो भेज दिया करो।'

'भेजूँगा।'

'मगर मैं जवाब नहीं दूँगी, यह समझ लो।'

'मत देना। मैं माँगता तो नहीं।...मगर याद रखना।'

गाड़ी चल पड़ी। अमृत उसकी खिड़की की ओर देखता रहा। गाड़ी के कोई एक फ़रलांग निकल जाने पर उसने देखा कि पूर्णिमा ने खिड़की से सिर निकालकर उसकी तरफ़ देखा और फिर बच्चे को गोद में लेकर उसे ज़रा-सा दिखला दिया।

अमृत का हृदय उस समय उड़कर पूर्णिमा के पास पहुँच जाना चाहता था। वह इतना प्रसन्न है कि मानो उसका उद्देश्य सिद्ध हो गया हो।

[४]

उसी वर्ष पूर्णिमा की मा का देहान्त हो गया। पूर्णिमा उस समय सौरी में थी। वह अपनी मा को अन्तिम समय में न देख सकी। जहाँ तक हो सकता था, अमृत ने पहले तो उसकी पूरी चिकित्सा की और उसके मर जाने पर उसका क्रिया-कर्म भी कर दिया। ब्राह्मणों को भी और बिरादरीवालों को भी भोजन कराया, मानो स्वयं उसी की मा मर गई हो। स्वयं उसके पिता का देहान्त हो ही चुका था, इसलिए वह आप ही अपने घर का मालिक हो गया था। कोई उसका हाथ पकड़ने-वाला नहीं था।

पूर्णिमा अब भला किस नाते से मैके आती? और फिर अब उसे इतनी फ़ुरसत ही कहाँ थी? अपने घर की मालकिन थी। घर किस पर छोड़कर आती? उसे दो बच्चे और भी हुए। पहला लड़का बड़ा होकर स्कूल में पढ़ने लगा। छोटा देहात के मदरसे में पढ़ता था। अमृत साल में एक बार नाई को भेजकर उन सबकी ख़ैर-सल्ला मँगा लिया करता था। पूर्णिमा सब प्रकार से सुखी और निश्चिन्त है, और उसकी तसल्ली के लिए इतना ही काफ़ी था। अमृत के लड़के भी अब सयाने हो गये थे। वह घर-गृहस्थी की चिन्ताओं में फँसा रहता था। फिर उसकी उम्र भी चालीस से आगे निकल गई थी; परन्तु फिर भी पूर्णिमा की स्मृति अभी तक उसके हृदय के गम्भीरतर भाग में सुरक्षित थी।

[५]

अचानक एक दिन अमृत ने सुना कि पूर्णिमा के पति का देहान्त हो गया। परन्तु आश्चर्य यह था कि उसे कोई दुःख नहीं हुआ। वह

योंही अपने मन में यह निश्चय कर बैठा था कि इस ख़बीस बुड्ढे के साथ पूर्णिमा का जीवन कभी ईर्ष्या के योग्य नहीं हो सकता। कर्त्तव्य की विवशता और पतिव्रत धर्म के पालन के विचार से उसने कभी अपना हार्दिक कष्ट प्रकट नहीं किया था। परन्तु यह असम्भव है कि सभी प्रकार के सुख और निश्चिन्तता के रहते हुए भी उस घृणित व्यक्ति के साथ उसे कोई विशेष प्रेम रहा हो। यह तो भारतवर्ष ही है, जहाँ ऐसी अप्सराएँ ऐसे अयोग्य कुपात्रों के गले बाँध दी जाती हैं। और नहीं तो यदि पूर्णिमा किसी दूसरे देश में होती, तो उस देशके नवयुवक उस पर निछावर हो जाते। उसकी मरी हुई वासनाएँ फिर जीवित हो गईं। अब उसमें वह पहलेवाली झिझक नहीं है। और न उसकी ज़बान पर वह पहलेवाली मौन की मोहर ही है। और फिर पूर्णिमा भी अब स्वतन्त्र है। अवस्था के धर्म ने अवश्य ही उसे अधिक दयालु बना दिया होगा। वह शोख़ी, अल्हड़पन और लापरवाही तो कभी की बिदा हो चुकी होगी। उस लड़कपन की जगह अब उसमें अनुभवी स्त्रियों की वे सब बातें आ गई होंगी, जो प्रेम का आदर करती हैं और उसकी इच्छुक होती हैं। वह पूर्णिमा के घर मातमपुरसी करने जायगा और उसे अपने साथ ले आयेगा। और जहाँ तक हो सकेगा, उसकी सेवा करेगा। अब पूर्णिमा के केवल सामीप्य से ही उसका सन्तोष हो जायगा। वह केवल उसके मुँह से यह सुनकर ही हार्दिक सन्तोष प्राप्त करेगा कि वह अब भी उसे याद करती है। अब भी उससे वही बचपन का-सा प्रेम करती है। बीस साल पहले उसने पूर्णिमा की जो सूरत देखी थी, उसमें उसका शरीर भरा हुआ था, गालों पर लाली थी, अंगों में कोमलता थी। उसकी खिची हुई ठोढ़ी थी जो मानो अमृत के भरे हुए कुण्ड के समान थी। उसकी मुस्कराहट मादक थी। बस उसका वही रूप अब भी बहुत ही थोड़े परिवर्त्तन के साथ उसकी आँखों में समाया हुआ था। और वह परिवर्त्तन उस एकान्त की आँखों

में उसे और भी अधिक प्रिय जान पड़ने लगा था। अवश्य ही समय की जाग्रति का उस पर कुछ न कुछ प्रभाव होगा। परन्तु पूर्णिमा के शरीर में किसी ऐसे परिवर्त्तन की वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था जिससे उसकी मनोहरता में कोई अन्तर आ जाय। और अब वह केवल ऊपरी रूप का उतना अधिक इच्छुक भी नहीं रह गया था, जितना उसके मधुर वचनों का भूखा था। वह उसकी प्रेमपूर्ण दृष्टि और उसके विश्वास का ही विशेष इच्छुक था। अपने पुरुषोचित आत्माभिमान के कारण कदाचित् वह यह भी समझता था कि वह पूर्णिमा की अतृप्त प्रेम-वासना को अपनी नाज़-बरदारियों और प्रेम के आवेश से सुरक्षित रखेगा और अपनी पिछली भूल-चूक का मार्जन कर डालेगा।

[६]

संयोग से पूर्णिमा स्वयं ही एक दिन अपने छोटे बच्चे के साथ अपने घर आ गई। उसकी एक विधवा मौसी थी जो उसकी मा के साथ ही अपने वैधव्य के दिन काट रही थी। वह अभी तक जीती थी। इस प्रकार वह सूना घर फिर से बस गया।

जब अमृत ने यह समाचार सुना, तब वह बड़े शौक़ से मानो मद-मत्त होकर उसके घर की तरफ़ दौड़ा। वह अपने लड़कपन और जवानी की मधुर स्मृतियों को अपने मन की झोली में अच्छी तरह सँभालता हुआ ले जा रहा था। उस समय उसकी अवस्था ठीक उसी छोटे बच्चे के समान थी जो अपने हमजोली को देखकर उसके साथ खेलने के लिए टूटे-फूटे खिलौने लेकर दौड़ पड़ता है।

लेकिन उसकी सूरत देखते ही उसका सारा शौक़ और सारी उमंग मानो बुझ-सी गई। वह निस्तब्ध होकर खड़ा रह गया। पूर्णिमा उसके सामने आकर सिर झुकाकर खड़ी हो गई। सफ़ेद साड़ी के घूँघट से आधा मुँह छिपा हुआ था लेकिन कमर झुक गई थी। बाहें सूत-सी पतली, पैर के पिछले भाग की रगें भरी हुई, आँखों से आँसू बह रहे

थे और चेहरे का रंग बिल्कुल पीला पड़ गया था। मानो कफ़न में लपेटी हुई लाश खड़ी हो !

पूर्णिमा की मौसी ने आकर कहा—बैठो बेटा ! देखते हो इसकी हालत, सूखकर काँटा हो गई है। एक क्षण को भी आँसू नहीं थमते। सिर्फ़ एक समय सूखी रोटियाँ खाती है। और किसी चीज़ से मतलब नहीं। नमक छोड़ दिया है, घी-दूध सब त्याग दिया है। बस रूखी रोटियों से काम। इस पर आये-दिन व्रत रखती है। कभी एकादशी, कभी एतवार और कभी मंगल। एक चटाई बिछाकर ज़मीन पर सोती है। घड़ी रात रहे उठकर पूजा-पाठ करने लगती है। लड़के समझाते हैं, मगर किसी की नहीं सुनती। कहती है कि जब भगवान ने सुहाग ही उठा लिया, तो फिर सब कुछ मिथ्या है। जी बहलाने के लिए यहाँ आई थी। मगर यहाँ भी रोने के सिवा दूसरा काम नहीं। कितना समझाती हूँ कि बेटी, भाग्य में जो कुछ लिखा था वह हुआ। अब सब्र करो। भगवान ने तुम्हें बाल-बच्चे दिये हैं। उनको पालो। घर में ईश्वर का दिया सब कुछ है। चार को खिलाकर खा सकती हो। मन पवित्र होना चाहिये। शरीर को दुःख देने से क्या लाभ ? लेकिन सुनती ही नहीं। अब तुम समझाओ तो शायद माने।

अमृत ऊपर से देखने में तो निस्तब्ध ; परन्तु अन्दर हृदय-विदारक वेदना छिपाये हुए खड़ा था। मानो जिस नींव पर उसने ज़िन्दगी की इमारत खड़ी की थी, वह हिल गई हो ! आज उसे मालूम हुआ कि जन्म भर उसने जिस वस्तु को तथ्य समझ रखा था, वह वास्तव में मृग-तृष्णा थी, अथवा केवल स्वप्न था। पूर्णिमा के इस विकट आत्म-संयम और तपस्वियों के-से आचरण के सामने उसकी समस्त वासनाओं और प्रेम की उमंगों का नाश हो गया था। और उसके सामने जीवन का यह नया तथ्य आकर उपस्थित हो गया था कि यदि मन में मिट्टी को देवता बनाने की शक्ति है, तो मनुष्य को भी देवता बनाने

की शक्ति है। पूर्णिमा उसी घृणित मनुष्य को देवता बनाकर उसकी पूजा कर रही थी।

उसने शान्त भाव से कहा—तपस्विनी को हम जैसे स्वार्थी लोग कैसे समझा सकते हैं, मौसी ! हम लोगों का कर्त्तव्य इसके चरणों पर सिर झुकाना है, इसे समझाना नहीं।

पूर्णिमा ने मुँह पर का घूँघट हटाते हुए कहा—तुम्हारा बच्चा तुम्हें अभी तक पूछा करता है।

---

*

आभूषण

—॥॥—

आभूषणों की निंदा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम असहयोग का उत्पीड़न सह सकते हैं ; पर ललनाओं के निर्दय, घातक वाक्य-बाणों को नहीं ओज सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि इस तृष्णा की पूर्ति के लिए जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि हमने किसी रूप-हीना महिला को आभूषणों की सजावट से रूपवती होते नहीं देखा, तथापि हम यह भी मान लेते हैं कि रूप के लिए आभूषणों की उतनी ही ज़रूरत है, जितनी घर के लिए दीपक की। किंतु शारीरिक शोभा के लिए हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत, और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं, इसका हमें कदाचित् ज्ञान ही नहीं होता। इस दीपक की ज्योति में आँखें धुँधली हो जाती हैं। यह चमक-दमक कितनी ईर्ष्या, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्द्धा, कितनी दुश्चिंता और कितनी दुराशा का कारण है ; इसकी केवल कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हें भूषण नहीं,

दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कब हो सकता था कि कोई नववधू, पति के घर आने के तीसरे ही दिन अपने पति से कहती कि 'मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँधकर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया !'

शीतला आज अपने गाँव के ताल्लुक़ेदार कुँअर सुरेश सिंह की नवविवाहिता वधू को देखने गई थी। उसके सामने ही वह मंत्र-मुग्ध-सी हो गई। बहू के रूप-लावण्य पर नहीं, उसके आभूषणों की जगमगाहट पर उसकी टकटकी लगी रही। और, वह जबसे लौटकर घर आई, उसकी छाती पर साँप लोटता रहा। अन्त को ज्योंही उसका पति घर आया, वह उस पर बरस पड़ी, और दिल में भरा हुआ गुबार पूर्वोक्त शब्दों में निकल पड़ा। शीतला के पति का नाम विमल सिंह था। उसके पुरखे किसी ज़माने में इलाक़ेदार थे। इस गाँव पर भी उन्हीं का सोलहो आने अधिकार था। लेकिन अब इस घर की दशा हीन हो गई है। सुरेश सिंह के पिता ज़मीन्दारी के काम में दक्ष थे। विमल सिंह का सब इलाक़ा किसी-न-किसी प्रकार से उनके हाथ आ गया। विमल के पास सवारी का टट्टू भी न था, उसे दिन में दो बार भोजन भी मुश्किल से मिलता था। उधर सुरेश के पास हाथी, मोटर और कई घोड़े थे; दस-पाँच बाहर के आदमी नित्य द्वार पर पड़े रहते थे। पर इतनी विषमता होने पर भी दोनो में भाई-चारा निभाया जाता था, शादी-ब्याह में, मूँडन-छेदन में परस्पर आना-जाना होता रहता था। सुरेश विद्या-प्रेमी थे, हिंदुस्थान में ऊँची शिक्षा समाप्त करके वह योरप चले गये, और सब लोगों की शंकाओं के विपरीत, वहाँ से आर्य-सभ्यता के परम भक्त बनकर लौटे थे। वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोगलिप्सा और अमानुषिक मदान्धता ने उनकी आँखें खोल दी थीं। पहले वह घरवालों के बहुत ज़ोर देने पर भी विवाह करने को राज़ी नहीं हुए। लड़की से पूर्व-परिचय हुए बिना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर योरप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों में बहुत बड़ा

परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से बिना उसके आचार-विचार जाने हुए विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बन्धन नहीं, धर्म का बन्धन समझते थे। उसी सौभाग्यवती वधू को देखने के लिए आज शीतला, अपनी सास के साथ, सुरेश के घर गई थी। उसी के आभूषणों की छटा देखकर वह मर्माहत-सी हो गई है। विमल ने व्यथित होकर कहा—तो माता-पिता से कहा होता, सुरेश से ब्याह कर देते। वह तुम्हें गहनों से लाद सकते थे।

शीतला—तो गाली क्यों देते हो?

विमल—गाली नहीं देता, बात कहता हूँ। तुम जैसी सुन्दरी को उन्होंने नाहक़ मेरे साथ ब्याहा।

शीतला—लजाते तो हो नहीं, उलटे और ताने देते हो!

विमल—भाग्य मेरे वश में नहीं है। इतना पढ़ा भी नहीं हूँ, कि कोई बड़ी नौकरी करके रुपए कमाऊँ।

शीतला—यह क्यों नहीं कहते कि प्रेम ही नहीं है। प्रेम हो, तो कंचन बरसने लगे।

विमल—तुम्हें गहनों से बहुत प्रेम है?

शीतला—सभी को होता है। मुझे भी है।

विमल—अपने को अभागिनी समझती हो?

शीतला—हूँ ही, समझना कैसा? नहीं तो क्या दूसरे को देखकर तरसना पड़ता?

विमल—गहने बनवा दूँ, तो अपने को भाग्यवती समझने लगोगी?

शीतला—(चिढ़कर) तुम तो इस तरह पूछ रहे हो, जैसे सुनार दरवाज़े पर बैठा है।

विमल—नहीं, सच कहता हूँ, बनवा दूँगा। हाँ, कुछ दिन सबर करना पड़ेगा।

[२]

समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है तो वे प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्य-हीन पुरुष अपनी ही जान पर खेल जाता है। विमल सिंह ने घर से निकल जाने की ठानी। निश्चय किया, या तो इसे गहनों से ही लाद दूँगा, या वैधव्य-शोक से। या तो आभूषण ही पहनेगी या सेंदुर को भी तरसेगी।

दिन भर वह चिंता में डूबा पड़ा रहा। शीतला को उसने प्रेम से संतुष्ट करना चाहा था। आज अनुभव हुआ कि नारी का हृदय प्रेम-पाश से नहीं बँधता, कंचन के पाश ही से बँध सकता है। पहर रात जाते-जाते वह घर से चल खड़ा हुआ। पीछे फिरकर भी न देखा। ज्ञान से जागे हुए विराग में चाहे मोह का संस्कार हो, पर नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। प्रकाश में इधर-उधर की वस्तुओं को देखकर मन विचलित हो सकता है। पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ भर भी हट सके।

विमल के पास विद्या न थी, कला-कौशल भी न था; उसे केवल अपने कठिन परिश्रम और कठिन आत्मत्याग ही का आधार था। वह पहले कलकत्ते गया। वहाँ कुछ दिन तक एक सेठ की दरबानी करता रहा। वहाँ जो सुन पाया कि रंगून में मज़दूरी अच्छी मिलती है, तो रंगून जा पहुँचा; और बंदर पर माल चढ़ाने-उतारने का काम करने लगा।

कुछ तो कठिन श्रम, कुछ खाने-पीने के असंयम; और कुछ जलवायु की ख़राबी के कारण वह बीमार हो गया। शरीर दुर्बल हो गया, मुख की कांति जाती रही; फिर भी उससे ज़्यादा मेहनती मज़दूर बंदर पर दूसरा न था। और मज़दूर मज़दूर थे, पर यह मज़दूर तपस्वी था। मन में जो कुछ ठान लिया था, उसे पूरा करना ही उसके जीवन का एक-मात्र उद्देश्य था।

उसने घर को अपना कोई समाचार न भेजा। अपने मन से तर्क

किया, घर में कौन मेरा हितू है? गहनों के सामने मुझे कौन पूछता है? उसकी बुद्धि यह रहस्य समझने में असमर्थ थी कि आभूषणों की लालसा रहने पर भी प्रणय का पालन किया जा सकता है। और मज़दूर प्रातःकाल सेरों मिठाई खाकर जल-पान करते; दिन-भर—दम-दम-भर पर—गाँजे, चरस और तमाखू के दम लगाते; अवकाश पाते, तो बाज़ार की सैर करते थे। कितनों ही को शराब का भी शौक़ था। पैसों के बदले रुपए कमाते, तो पैसों की जगह रुपए ख़र्च भी कर डालते थे। किसी के देह पर साबित कपड़े तक न थे। पर विमल उस गिनती के दो-चार मज़दूरों में से था, जो संयम से रहते थे, जिनके जीवन का उद्देश्य खा-पीकर मर जाने के सिवा कुछ और भी था। थोड़े ही दिनों में उसके पास थोड़ी-सी संपत्ति हो गई। धन के साथ और मज़दूरों पर दबाव भी बढ़ने लगा। यह प्रायः सभी जानते थे कि विमल जाति का कुलीन ठाकुर है। सब ठाकुर ही कहकर उसे पुकारते। संयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मंत्र हैं। विमल मज़दूरों का नेता और महाजन हो गया।

विमल को रंगून में काम करते तीन वर्ष हो चुके थे। संध्या हो गई थी। वह कई मज़दूरों के साथ समुद्र के किनारे बैठा बातें कर रहा था।

एक मज़दूर ने कहा—यहाँ की सभी स्त्रियाँ निठुर होती हैं। बेचारा झींगुर १० बरस से उस वर्मी स्त्री के साथ रहता था। कोई अपनी ब्याही जोरू से भी इतना प्रेम न करता होगा। उस पर इतना विश्वास करता था कि जो कुछ कमाता, उसके हाथ में रख देता। तीन लड़के थे। अभी कल तक दोनो साथ-साथ खाकर लेटे थे। न कोई लड़ाई, न झगड़ा, न बात न चीत; रात को औरत न-जाने कब उठी, और न-जाने कहाँ चली गई। लड़कों को छोड़ गई। बेचारा झींगुर बैठा रो रहा है। सबसे बड़ी मुशकिल तो छोटे बच्चे की है। अभी कुल छः महीने का है। कैसे जियेगा, भगवान् ही जानें।

विमल सिंह ने गंभीर भाव से कहा—गहने बनवाता था कि नहीं?

मज़दूर—रुपए-पैसे तो औरत ही के हाथ में थे। गहने बनवाती, तो उसका हाथ कौन पकड़ता?

दूसरे मज़दूर ने कहा—गहनों से तो लदी हुई थी। जिधर से निकल जाती थी, छम-छम की आवाज़ से कान भर जाते थे।

विमल—जब गहने बनवाने पर भी निठुराई की तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफ़ा होती है।

इतने में एक आदमी आकर विमल सिंह से बोला—चौधरी, अभी मुझे एक सिपाही मिला था। वह तुम्हारा नाम, गाँव और बाप का नाम पूछ रहा था। कोई बाबू सुरेश सिंह हैं?

विमल ने सशंक होकर कहा—हाँ, हैं। मेरे गाँव के इलाक़ेदार और बिरादरी के भाई हैं।

आदमी—उन्होंने थाने में कोई नोटिस छपवाया है कि जो विमल सिंह का पता लगावेगा, उसे १,०००) का इनाम मिलेगा।

विमल—तो तुमने सिपाही को सब ठीक-ठीक बता दिया?

आदमी—चौधरी, मैं कोई गँवार हूँ क्या? समझ गया, कुछ दाल में काला है; नहीं तो कोई इतने रुपए क्यों ख़र्च करता। मैंने कह दिया कि उनका नाम विमल सिंह नहीं, जसोदा पाँड़े है। बाप का नाम सुक्खू बताया, और घर ज़िला झाँसी में। पूछने लगा, यहाँ कितने दिन से रहता है? मैंने कहा, कोई दस साल से। तब कुछ सोचकर चला गया। सुरेश बाबू से तुमसे कोई अदावत है क्या चौधरी?

विमल—अदावत तो नहीं थी, मगर कौन जाने, उनकी नीयत बिगड़ गई हो। मुझ पर कोई अपराध लगाकर मेरी जगह-ज़मीन पर हाथ बढ़ाना चाहते हों। तुमने बड़ा अच्छा किया कि सिपाही को उड़नघाइयाँ बताईं।

आदमी—मुझसे कहता था कि ठीक-ठीक बता दो, तो ५०) तुम्हें भी दिला दूँ। मैंने सोचा—आप तो १,०००) की गठरी मारेगा, और मुझे ५०) दिलाने को कहता है। फटकार बता दी।

एक मज़दूर—मगर जो २००) देने को कहता, तो तुम सब ठीक-ठीक नाम ठिकाना बता देते? क्यों? धत् तेरे लालची की!

आदमी—(लज्जित होकर) २००) नहीं, २,०००) भी देता, तो न बताता। मुझे ऐसा विश्वासघात करनेवाला न समझो। जब जी चाहे परख लो।

मज़दूरों में यों वाद-विवाद होता ही रहा, विमल आकर अपनी कोठरी में लेट गया। वह सोचने लगा—अब क्या करूँ! जब सुरेश-जैसे सज्जन की नीयत बदल गई, तो अब किसका भरोसा करूँ! नहीं, अब बिना घर गये काम नहीं चलेगा। कुछ दिन और न गया, तो फिर कहीं का न होऊँगा। दो साल और रह जाता, तो पास में पूरे ५,०००) हो जाते। शीतला की इच्छा कुछ पूरी हो जाती। अभी तो सब मिलाकर ३,०००) ही होंगे; इतने में उसकी अभिलाषा न पूरी होगी। ख़ैर, अभी चलूँ। छः महीने रहने का क्या काम है। जाने-आने में एक महीना लग जायगा। घर १५ दिन से ज्यादा न रहूँगा। वहाँ कौन पूछता है, आऊँ या रहूँ, मरूँ या जिऊँ; वहाँ तो गहनों से प्रेम है।

इस तरह मन में निश्चय करके वह दूसरे दिन रंगून से चल पड़ा।

(३)

संसार कहता है कि गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नहीं। हमारे नीति-शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है। पर वास्तव में यह कितना भ्रममूलक है! कुँअर सुरेश सिंह की नववधू मंगलाकुमारी गृह-कार्य में निपुण, पति के इशारे पर प्राण देनेवाली, अत्यंत विचार-शीला, मधुर-भाषिणी और धर्म-भीरु थी; पर सौंदर्य-विहीन होने के

कारण पति की आँखों में काँटे के समान खटकती थी। सुरेश सिंह बात-बात पर उस पर झुँझलाते, पर घड़ी भर में पश्चात्ताप के वशीभूत होकर उससे क्षमा माँगते; किन्तु दूसरे ही दिन फिर वही कुत्सित व्यापार शुरू हो जाता। विपत्ति यह थी कि उनके आचरण अन्य रईसों की भाँति भ्रष्ट न थे। वह दांपत्य जीवन ही में आनन्द, सुख, शांति, विश्वास, प्रायः सभी ऐहिक और पारमार्थिक उद्देश्य पूरा करना चाहते थे, और दांपत्य-सुख से वंचित होकर उन्हें अपना समस्त जीवन नीरस, स्वाद-हीन और कुंठित जान पड़ता था। फल यह हुआ कि मंगला को अपने ऊपर विश्वास न रहा। वह अपने मन से कोई काम करते हुए डरती कि स्वामी नाराज़ होंगे। स्वामी को ख़ुश रखने के लिए अपनी भूलों को छिपाती, बहाने करती, झूठ बोलती। नौकरों को अपराध लगाकर आत्मरक्षा करना चाहती। पति को प्रसन्न रखने के लिए उसने अपने गुणों की, अपनी आत्मा की अवहेला की; पर उठने के बदले वह पति की नज़रों से गिरती ही गई। वह नित्य नए श्रृंगार करती; पर लक्ष्य से दूर होती जाती। पति की एक मधुर मुसकान के लिए, उनके अधरों के एक मीठे शब्द के लिए, उसका प्यासा हृदय तड़प-तड़पकर रह जाता। लावण्य-विहीन स्त्री वह भिक्षुक नहीं है, जो चंगुल-भर आटे से संतुष्ट हो जाय। वह भी पति का संपूर्ण, अखंड प्रेम चाहती है, और कदाचित्, सुंदरियों से अधिक; क्योंकि वह इसके लिए असाधारण प्रयत्न और अनुष्ठान करती है। मंगला इस प्रयत्न में निष्फल होकर और भी संतप्त होती थी।

धीरे-धीरे पति पर से उसकी श्रद्धा उठने लगी। उसने तर्क किया कि ऐसे क्रूर, हृदय-शून्य, कल्पना-हीन मनुष्य से मैं भी उसी का-सा व्यवहार करूँगी। जो पुरुष केवल रूप का भक्त है, वह प्रेम-भक्ति के योग्य नहीं। इस प्रत्याघात ने समस्या और भी जटिल कर दी।

मगर मंगला को केवल अपनी रूप-हीनता ही का रोना न था,

शीतला का अनुपम रूप-लालित्य भी उसकी कामनाओं का बाधक था, बल्कि यही उसकी आशा-लताओं पर पड़नेवाला तुषार था। मंगला सुंदरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते ; प्रेम की शक्ति अपार है। पर शीतला की मूर्ति सुरेश के हृदय-द्वार पर बैठी हुई मंगला को अन्दर न जाने देती थी, चाहे वह कितना ही वेप बदलकर आये। सुरेश इस मूर्ति को हटाने की चेष्टा कर रहे थे, उसे बलात् निकाल देना चाहते थे ; किन्तु सौंदर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता। जिस दिन शीतला इस घर में मंगला का मुँह देखने आई थी, उसी दिन सुरेश की आँखों ने उसकी मनोहर छवि की एक झलक देख ली थी। वह एक झलक मानो एक क्षणिक क्रिया थी, जिसने एक ही धावे में समस्त हृदय-राज्य को जीत लिया—उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

सुरेश एकांत में बैठे हुए शीतला के चित्र को मंगला से मिलाते, यह निश्चय करने के लिए कि उनमें अन्तर क्या है? एक क्यों मन को खींचती है, दूसरी क्यों उसे हटाती है? पर उनके मन का यह खिचावा केवल एक चित्रकार या कवि का रसास्वादन-मात्र था। वह पवित्र और वासनाओं से रहित था। वह मूर्ति केवल उनके मनोरंजन की सामग्री-मात्र थी। वह अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मंगला को प्रसन्न रखूँगा। यदि वह सुन्दरी नहीं है, तो उसका क्या दोप? पर उनका यह सब प्रयास मंगला के सम्मुख जाते ही विफल हो जाता था। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मंगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते ; पर एक पक्षाघात-पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देखकर भी रोकने का कोई उपाय न कर सकते। परिणाम क्या होगा, यह सोचने का उन्हें साहस ही न होता। पर जब मंगला ने अन्त को बात-बात में उनकी तीव्र आलोचना करना शुरु कर दिया,

वह उनसे उच्छृङ्खलता का व्यवहार करने लगा, तब उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द भी विलुप्त हो गया। घर में आना-जाना ही छोड़ दिया।

एक दिन संध्या के समय बड़ी गरमी थी, पंखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बग़ीचों में भी न जाता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बह गई थी। जो जहाँ था, वहीं मुर्दा-सा पड़ा था। आग से सेंके हुए मृदंग की भाँति लोगों के स्वर कर्कश हो गये थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते, जैसे साधारण संघर्ष से वन के वृक्ष जल उठते हैं। सुरेशसिंह कभी चार क़दम टहलते, फिर हाँफकर बैठ जाते। नौकरों पर झुँझला रहे थे कि जल्द-जल्द छिड़काव क्यों नहीं करते? सहसा उन्हें अंदर से गाने की आवाज़ सुनाई दी। चौंके, फिर क्रोध आया। मधुर गान कानों को अप्रिय जान पड़ा। यह क्या बेवक्त की शहनाई है! यहाँ गरमी के मारे दम निकल रहा है, और इन सबको गाने की सूझी है! मंगला ने बुलाया होगा, और क्या! लोग नाहक़ कहते हैं कि स्त्रियों के जीवन का आधार प्रेम है। उनके जीवन का आधार वही भोजन, निद्रा, राग-रंग, आमोद-प्रमोद है, जो समस्त प्राणियों का है। घंटे-भर तो सुन चुका। यह गीत कभी बंद भी होगा या नहीं; सब व्यर्थ में गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रही हैं।

अंत को न रहा गया। ज़नानख़ाने में आकर बोले—यह तुम लोगों ने क्या काँव-काँव मचा रखी है? यह गाने-बजाने का कौन-सा समय है? बाहर बैठना मुश्किल हो गया!

सन्नाटा छा गया। जैसे शोर-गुल मचानेवाले बालकों में मास्टर पहुँच जाय। सभी ने सिर झुका लिये, और सिमट गईं।

मंगला तुरंत उठकर सामनेवाले कमरे में चली गई। पति को बुलाया, और आहिस्ते से बोली—क्यों इतना बिगड़ रहे हो?

'मैं इस वक्त गाना नहीं सुनना चाहता।'

'तुम्हें सुनाता ही कौन है ? क्या मेरे कानों पर भी तुम्हारा अधिकार है ?'

'फ़ुज़ूल की बमचख़—'

'तुमसे मतलब ?'

'मैं अपने घर में यह कोलाहल न मचने दूँगा !'

'तो मेरा घर कहीं और है ?'

सुरेश सिंह इसका उत्तर न देकर बोले—इन सबसे कह दो, फिर किसी वक्त आयें।

मंगला—इसलिए कि तुम्हें इनका आना अच्छा नहीं लगता ?

'हाँ, इसी लिए ?'

'तुम क्या सदा वही करते हो, जो मुझे अच्छा लगे ? तुम्हारे यहाँ मित्र आते हैं, हँसी-ठट्ठे की आवाज़ अंदर सुनाई देती है। मैं कभी नहीं कहती कि इन लोगों का आना बंद कर दो। तुम मेरे कामों में दस्तंदाज़ी क्यों करते हो ?'

सुरेश ने तेज़ होकर कहा—इसलिए कि मैं घर का स्वामी हूँ।

मंगला—तुम बाहर के स्वामी हो ; यहाँ मेरा अधिकार है।

सुरेश—क्यों व्यर्थ की बक-बक करती हो ? मुझे चिढ़ाने से क्या मिलेगा ?

मंगला ज़रा देर चुपचाप खड़ी रही। वह पति के मनोगत भावों की मीमांसा कर रही थी। फिर बोली—अच्छी बात है। अब इस घर में मेरा कोई अधिकार नहीं, तो न रहूँगी। अब तक भ्रम में थी। आज तुमने वह भ्रम मिटा दिया। मेरा इस घर पर अधिकार कभी नहीं था। जिस स्त्री का पति के हृदय पर अधिकार नहीं, उसका उसकी संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं हो सकता।

सुरेश ने लज्जित होकर कहा—बात का बतंगड़ क्यों बनाती हो! मेरा यह मतलब न था। कुछ का कुछ समझ गई।

मंगला—मन की बात आदमी के मुँह से अनायास ही निकल जाती है। फिर सावधान होकर हम अपने भावों को छिपा लेते हैं।

सुरेश को अपनी असज्जनता पर दुःख तो हुआ, पर इस भय से कि मैं इसे जितना ही मनाऊँगा, उतना ही यह और जली-कटी सुनायेगी, उसे वहीं छोड़कर बाहर चले आये।

प्रातःकाल ठंढी हवा चल रही थी। सुरेश खुमारी में पड़े हुए स्वप्न देख रहे थे कि मंगला सामने से चली जा रही है। चौंक पड़े। देखा, द्वार पर सचमुच मंगला खड़ी है। घर की नौकरानियाँ आँचल से आँखें पोंछ रही हैं। कई नौकर आसपास खड़े हैं। सभी की आँखें सजल और मुख उदास हैं। मानो बहू बिदा हो रही है।

सुरेश समझ गये कि मंगला को कल की बात लग गई। पर उन्होंने उठकर कुछ पूछने की, मनाने की, या समझाने की चेष्टा न की। यह मेरा अपमान कर रही है; मेरा सिर नीचा कर रही है। जहाँ चाहे जाय। मुझसे कोई मतलब नहीं। यों बिना कुछ पूछे-पाछे चले जाने का अर्थ यह है कि मैं इसका कोई नहीं। फिर मैं इसे रोकनेवाला कौन!

वह यों ही जड़वत् पड़े रहे, और मंगला चली गई। उनकी तरफ़ मुँह उठाकर भी न ताका।

(४)

मंगला पाँव-पैदल चली जा रही थी। एक बड़े ताल्लुक़ेदार की औरत के लिए यह मामूली बात न था। हर किसी की हिम्मत न पड़ती कि उससे कुछ कहे। पुरुष उसकी राह छोड़कर किनारे खड़े हो जाते थे। नारियाँ द्वार पर खड़ी करुण कौतूहल से देखती थीं, और आँखों से कहती थीं—हा निर्दयी पुरुष! इतना भी न हो सका कि डोले पर तो बैठा देता!

इस गाँव से निकलकर मंगला उस गाँव में पहुँची, जहाँ शीतला रहती थी। शीतला सुनते ही द्वार पर आकर खड़ी हो गई, और मंगला से बोली—बहन, ज़रा आकर दम ले लो।

मंगला ने अन्दर जाकर देखा, तो मकान जगह-जगह से गिरा हुआ था। दालान में एक वृद्धा खाट पर पड़ी थी। चारो ओर दरिद्रता के चिह्न दिखाई देते थे।

शीतला ने पूछा—यह क्या हुआ?

मंगला—जो भाग्य में लिखा था।

शीतला—कुँअरजी ने कुछ कहा-सुना क्या?

मंगला—मुँह से कुछ न कहने पर भी तो मन की बात छिपी नहीं रहती।

शीतला—अरे, तो क्या अब यहाँ तक नौबत आ गई!

दुःख की अन्तिम दशा संकोच-हीन होती है। मंगला ने कहा—चाहती, तो अब भी पड़ी रहती। उसी घर में जीवन कट जाता। पर जहाँ प्रेम नहीं, पूछ नहीं, मान नहीं, वहाँ अब नहीं रह सकती।

शीतला—तुम्हारा मायका कहाँ है?

मंगला—मायके कौन मुँह लेकर जाऊँगी?

शीतला—तब कहाँ जाओगी?

मंगला—ईश्वर के दरबार में। पूछूँगी कि तुमने मुझे सुन्दरता क्यों नहीं दी? बदसूरत क्यों बनाया? बहन, स्त्री के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नहीं कि वह रूप-हीन हो। शायद पुरबले जनम की पिशाचिनियाँ ही बदसूरत औरतें होती हैं। रूप से प्रेम मिलता है, और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं है।

यह कहकर मंगला उठ खड़ी हुई। शीतला ने उसे रोका नहीं। सोचा—इसे खिलाऊँगी क्या, आज तो चूल्हा जलने की कोई आशा नहीं।

उसके जाने के बाद वह बहुत देर तक बैठी सोचती रही—मैं कैसी अभागिनी हूँ। जिस प्रेम को न पाकर यह बेचारी जीवन को त्याग रही है, उसी प्रेम को मैंने पाँव से ठुकरा दिया। इसे ज़ेवर की क्या कमी थी? क्या ये सारे जड़ाऊ ज़ेवर इसे सुखी रख सके? इसने उन्हें पाँव से ठुकरा दिया। उन्हीं आभूषणों के लिए मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा! न-जाने वह (विमल सिंह) कहाँ हैं, किस दशा में हैं!

अपनी लालसा को, तृष्णा को, वह कितनी ही बार धिक्कार चुकी थी। शीतला की दशा देखकर आज उसे आभूषणों से घृणा हो गई।

विमल को घर छोड़े दो साल हो गये थे। शीतला को अब उनके बारे में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। आठों पहर उसके चित्त में ग्लानि और क्षोभ की आग सुलगती।

दिहात के छोटे-मोटे ज़मींदारों का काम डाँट-डपट, छीन-झपट ही से चला करता है। विमल की खेती बेगार में होती थी। उसके जाने के बाद सारे खेत परती रह गये। कोई जोतनेवाला न मिला। इस ख़याल से साझे पर भी किसी ने न जोता कि बीच में कहीं विमल सिंह आ गये, तो साझेदार को अँगूठा दिखा देंगे। असामियों ने लगान न दिया। शीतला ने महाजन से रुपए उधार लेकर काम चलाया। दूसरे वर्ष भी यही कैफ़ियत रही। अबकी महाजन ने भी रुपए न दिये। शीतला के गहनों के सिर गई। दूसरा साल समाप्त होते-होते घर की सब लेई-पूँजी निकल गई। फ़ाक़े होने लगे। बूढ़ी सास, छोटा देवर, ननँद और आप चार प्राणियों का ख़र्च था। नात-हित भी आते ही रहते थे। उस पर यह और मुसीबत हुई कि मायके में एक फ़ौजदारी हो गई। पिता और बड़े भाई उसमें फँस गये। दो छोटे भाई, एक बहन और माता, चार प्राणी और सिर पर आ डटे। गाड़ी पहले ही मुशकिल से चलती थी, अब ज़मीन में धँस गई।

प्रातःकाल से कलह का आरंभ हो जाता। समधिन समधिन से, साले बहनोई से गुथ जाते। कभी तो अन्न के अभाव से भोजन ही न बनता; कभी, भोजन बनने पर भी, गाली-गलौज के कारण खाने की नौबत न आती। लड़के दूसरों के खेतों में जाकर गन्ने और मटर खाते; बुढ़ियाँ दूसरों के घर जाकर अपना दुखड़ा रोतीं और ठकुर-सोहाती कहतीं। पुरुष की अनुपस्थिति में स्त्री के मायकेवालों का प्राधान्य हो जाता है। इस संग्राम में प्रायः विजय-पताका मायकेवालों के ही हाथ रहती है। किसी भाँति घर में नाज आ जाता, तो उसे पीसे कौन। शीतला की मा कहती, चार दिन के लिए आई हूँ, तो क्या चक्की चलाऊँ? सास कहती, खाने की बेर तो बिल्ली की तरह लपकेंगी, पीसते क्यों जान निकलती है? विवश होकर शीतला को अकेले पीसना पड़ता। भोजन के समय वह महाभारत मचता कि पड़ोसवाले तंग आ जाते। शीतला कभी मा के पैरों पड़ती, कभी सास के चरण पकड़ती; लेकिन दोनो ही उसे झिड़क देतीं। मा कहती, तूने यहाँ बुलाकर हमारा पानी उतार लिया। सास कहती, मेरी छाती पर सौत लाकर बैठा दी, अब बातें बनाती है! इस घोर विवाद में शीतला अपना विरह-शोक भूल गई। सारी अमंगल-शंकाएँ इस विरोधाग्नि में शांत हो गईं। बस, अब यही चिंता थी कि इस दशा से छुटकारा कैसे हो? मा और सास, दोनो ही का यमराज के सिवा और कहीं ठिकाना न था; पर यमराज उनका स्वागत करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। सैकड़ों उपाय सोचती; पर उस पथिक की भाँति, जो दिन भर चलकर भी अपने द्वार ही पर खड़ा हो, उसकी सोचने की शक्ति निश्चल हो गई थी। चारो तरफ़ निगाहें दौड़ाती कि कहीं कोई शरण का स्थान है? पर कहीं निगाह न जमती।

एक दिन वह इसी नैराश्य की अवस्था में द्वार पर खड़ी थी। मुसीबत में, चित्त की उद्विग्नता में, इंतज़ार में, द्वार से प्रेम-सा हो जाता है। सहसा उसने बाबू सुरेश सिंह को सामने से घोड़े पर जाते

देखा। उनकी आँखें उसकी ओर फिरीं। आँखें मिल गईं। वह झिझक-कर पीछे हट गई। किवाड़े बन्द कर लिये। कुँअर साहब आगे बढ़ गये। शीतला को खेद हुआ कि उन्होंने मुझे देख लिया। मेरे सिर पर सारी फटी हुई थी, चारो तरफ़ उसमें पेवंद लगे हुए थे। वह अपने मन में न-जाने क्या कहते होंगे?

कुँअर साहब को गाँववालों से विमल सिंह के परिवार के कष्टों की ख़बर मिली थी। वह गुप्त रूप से उनकी कुछ सहायता करना चाहते थे। पर शीतला को देखते ही संकोच ने उन्हें ऐसा दबाया कि द्वार पर एक क्षण भी न रुक सके। मंगला के गृह-त्याग के तीन महीने पीछे आज वह पहली बार घर से निकले थे। मारे शर्म के बाहर बैठना छोड़ दिया था।

इसमें संदेह नहीं कि कुँअर साहब मन में शीतला के रूप-रस का आस्वादन करते थे। मंगला के जाने के बाद उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जग उठी। क्या किसी उपाय से यह सुन्दरी मेरी नहीं हो सकती? विमल का मुद्दत से पता नहीं। बहुत संभव है कि वह अब संसार में न हो। किंतु वह इस दुष्कल्पना को विचार से दबाते रहते थे। शीतला की विपत्ति की कथा सुनकर भी वह उसकी सहायता करते डरते थे। कौन जाने, वासना यही वेष रखकर मेरे विचार और विवेक पर कुठाराघात न करना चाहती हो। अंत को लालसा की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गई। वह शीतला के घर उसका हाल-चाल पूछने गये। मन में तर्क किया—यह कितना घोर अन्याय है कि एक अबला ऐसे संकट में हो, और मैं उसकी बात भी न पूछूँ? पर वहाँ से लौटे, तो बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गई थीं, नौका मोह और वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह! यह मनोहर छवि! यह अनुपम सौंदर्य!

एक क्षण में उन्मत्तों की भाँति बकने लगे—यह प्राण और यह

शरीर तेरी भेंट करता हूँ। संसार हँसेगा, हँसे। महापाप है, हो। कोई चिन्ता नहीं। इस स्वर्गीय आनन्द से मैं अपने को वंचित नहीं कर सकता। वह मुझसे भाग नहीं सकती। इस हृदय को छाती से निकाल-कर उसके पैरों पर रख दूँगा। विमल? मर गया। नहीं मरा, तो अब मरेगा। पाप क्या है। बात नहीं। कमल कितना कोमल, कितना प्रफुल्ल, कितना ललित है! क्या उसके अधरों—

अकस्मात् वह ठिठक गये, जैसे कोई भूली हुई बात याद आ जाय। मनुष्य में बुद्धि के अंतर्गत एक अज्ञात बुद्धि होती है। जैसे रण-क्षेत्र में हिम्मत हारकर भागनेवाले सैनिकों को किसी गुप्त स्थान से आनेवाली कुमक सँभाल लेती है, वैसे ही इस अज्ञात बुद्धि ने सुरेश को सचेत कर दिया। वह सँभल गये। ग्लानि से उनकी आँखें भर आईं। वह कई मिनट तक किसी दंडित क़ैदी की भाँति क्षुब्ध खड़े सोचते रहे। फिर विजय-ध्वनि से कह उठे—कितना सरल है। इस विकार के हाथी को सिंह से नहीं, चिउँटी से मारूँगा। शीतला को एक बार 'बहन' कह देने से ही यह सब विकार शांत हो जायगा। शीतला! बहन! मैं तेरा भाई हूँ!

उसी क्षण उन्होंने शीतला को पत्र लिखा—बहन, तुमने इतने कष्ट झेले; पर मुझे ख़बर तक न दी! मैं कोई ग़ैर न था। मुझे इसका दुःख है। ख़ैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा। इस पत्र के साथ उन्होंने नाज और रुपए भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—भैया, क्षमा करो। जब तक जीऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।

(५)

कई महीने बीत गये, संध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाये थे। इतने में सुरेश आकर आँगन में बैठ गये।

शीतला ने पूछा—कहाँ से आते हो भैया ?

सुरेश—गया था ज़रा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ कि वह कोई और आदमी है। क्या करूँ, इनाम और बढ़ा दूँ ?

शीतला—तुम्हारे पास रुपए बढ़े हैं, फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आयेंगे।

सुरेश—एक बात पूछूँ, बताओगी ? किस बात पर तुमसे रूठे थे ?

शीतला—कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या। मैंने कहा (लजाकर), तो ब्याह क्यों किया ? बस बातों-ही-बातों में तकरार मान गये।

इतने में शीतला की सास आ गई। सुरेश ने शीतला की मा और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिए यहाँ अब शांति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी। कर्कश स्वर से बोली—बेटा, तुमसे क्या परदा है। यह महारानी देखने ही को गुलाब का फूल हैं, अन्दर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थी। बेचारा इस पर जान देता था, पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे छू नहीं गया। अन्त को उसे देश से निकाल इसने दम लिया।

शीतला ने रुष्ट होकर कहा—क्या वही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं ? देश-विदेश जाना मरदों का काम ही है।

सुरेश—योरप में तो धन-भोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बहन ने योरप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होतीं। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुंदरता देते हो, तो योरप में जन्म दो।

शीतला ने व्यथित होकर कहा—जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूटे गये हैं।

सुरेश सिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुख-कांति मलिन हो गई है। पति-वियोग में भी गहनों के लिए इतनी लालायित है! बोले—अच्छा, मैं तुम्हें गहने बनवा दूँगा।

यह वाक्य कुछ अपमान-सूचक स्वर में कहा गया था; पर शीतला की आँखें आनन्द से सजल हो आईं, कंठ गद्गद हो गया। उसके हृदय-नेत्रों के सामने मंगला के रत्न-जटित आभूषणों का चित्र खिंच गया। उसने कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से सुरेश को देखा। मुँह से कुछ न बोली; पर उसका प्रत्येक अंग कह रहा था—मैं तुम्हारी हूँ।

(६)

कोयल आम की डालियों पर बैठकर, मछली शीतल निर्मल जल में क्रीड़ा कर और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भरकर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहनकर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते। वह आकाश में विचरती हुई जान पड़ती है। वह दिन भर आइने के सामने खड़ी रहती है; कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया है; और निर्मल स्वच्छ चाँदनी निकल आई है। वह घर का एक तिनका भी नहीं उठाती। उसके स्वभाव में एक विचित्र गर्व का संचार हो गया है।

लेकिन शृंगार क्या है? सोई हुई काम-वासना को जगाने का घोर नाद—उद्दीपना का मंत्र। शीतला जब नख-शिख से सजकर बैठती है, तो उसे प्रबल इच्छा होती है कि मुझे कोई देखे। वह द्वार पर आकर खड़ी हो जाती है। गाँव की स्त्रियों की प्रशंसा से उसे संतोष नहीं होता। गाँव के पुरुषों को वह शृंगार-रस-विहीन समझती है। इसलिए सुरेश सिंह को बुलाती है। पहले वह दिन में एक बार आ जाते थे; अब शीतला के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आते।

पहर रात गई थी। घरों के दीपक बुझ चुके थे। शीतला के घर में

दीपक जल रहा था। उसने कुँअर साहब के बग़ीचे से बेले के फूल मँगवाये थे, और बैठी हार गूँथ रही थी—अपने लिए नहीं, सुरेश के लिए। प्रेम के सिवा एहसान का बदला देने लिए के उसके पास और था ही क्या ?

एकाएक कुत्तों के भूँकने की आवाज़ सुनाई दी, और दम भर में विमल सिंह ने मकान के अन्दर क़दम रखा। उनके एक हाथ में सन्दूक़ थी, दूसरे हाथ में गठरी। शरीर दुर्बल, कपड़े मैले, दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, मुख पीला, जैसे कोई कैदी जेल से निकलकर आया हो। दीपक का प्रकाश देखकर वह शीतला के कमरे की तरफ़ चले। मैना पिंजरे में तड़फड़ाने लगी। शीतला ने चौंककर सिर उठाया। घबराकर बोली—कौन ? फिर पहचान गई। तुरन्त फूलों को एक कपड़े से छिपा दिया। उठ खड़ी हुई, और सिर झुकाकर पूछा—इतनी जल्दी सुध ली !

विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मृत हो-होकर कभी शीतला को देखता और कभी घर को। मानो किसी नए संसार में पहुँच गया है। यह वह अधखिला फूल न था, जिसकी पँखड़ियाँ अनुकूल जल-वायु न पाकर सिमट गई थीं। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओस के जलकणों से जगमगाता और वायु के झोंकों से लहराता हुआ। विमल उसकी सुन्दरता पर पहले भी मुग्ध था। पर यह ज्योति वह अग्नि-ज्वाला थी, जिससे हृदय में ताप और आँखों में जलन होती थी। ये आभूषण, ये वस्त्र, यह सजावट ! उसके सिर में चक्कर-सा आ गया। ज़मीन पर बैठ गया। इस सूर्यमुखी के सामने बैठते हुए उसे लज्जा आती थी। शीतला अभी तक स्तम्भित खड़ी थी। वह पानी लाने नहीं दौड़ी, उसने पति के चरण नहीं धोये, उसके पंखा तक नहीं झला। वह हतबुद्धि-सी हो गई थी। उसने कल्पनाओं की कैसी सुरम्य वाटिका लगाई थी ! उस पर तुषार पड़ गया। वास्तव में इस मलिन-वदन, अर्द्ध-नग्न पुरुष से उसे घृणा हो रही थी। यह घर का ज़मींदार विमल न था। वह मज़दूर

हो गया था। मोटा काम मुखाकृति पर असर डाले बिना नहीं रहता। मज़दूर सुन्दर वस्त्रों में भी मज़दूर ही रहता है।

सहसा विमल की मा चौंकी। शीतला के कमरे में आई, तो विमल को देखते ही मातृस्नेह से विह्वल होकर उसे छाती से लगा लिया। विमल ने उसके चरणों पर सिर रखा। उसकी आँखों से आँसुओं की गरम-गरम बूँदें निकल रही थीं। मा पुलकित हो रही थी। मुख से बात न निकलती थी।

एक क्षण में विमल ने कहा—अम्माँ!

कंठ-ध्वनि ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

मा ने प्रश्न समझकर कहा—नहीं बेटा, यह बात नहीं है।

विमल—यह देखता क्या हूँ?

मा—स्वभाव ही ऐसा है, तो कोई क्या करे?

विमल—सुरेश ने मेरा हुलिया क्यों लिखाया था?

मा—तुम्हारी खोज लेने के लिए। उन्होंने दया न की होती, तो आज घर में किसी को जीता न पाते।

विमल— बहुत अच्छा होता।

शीतला ने ताने से कहा—अपनी ओर से तो तुमने सबको मार ही डाला था। फूलों की सेज बिछा गये थे न?

विमल—अब तो फूलों की सेज ही बिछी हुई देखता हूँ।

शीतला—तुम किसी के भाग्य के विधाता हो?

विमल सिंह उठकर क्रोध से काँपता हुआ बोला—अम्माँ, मुझे यहाँ से ले चलो। मैं इस पिशाचिनी का मुँह नहीं देखना चाहता। मेरी आँखों में खून उतरता चला आता है। मैंने इस कुल-कलंकिनी के लिए तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता; पर इसे न पा सका!

यह कहकर वह कमरे से निकल आया, और मा के कमरे में लेट

रहा। मा ने तुरंत उसका मुँह और हाथ-पैर धुलाये। वह चूल्हा जलाकर पूरियाँ पकाने लगी। साथ-साथ घर की विपत्ति-कथा भी कहती जाती थी। विमल के हृदय में सुरेश के प्रति जो विरोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वह शांत हो गई; लेकिन हृदय-दाह ने रक्त-दाह का रूप धारण किया। ज़ोर का बुख़ार चढ़ आया। लंबी यात्रा की थकन और कष्ट तो था ही, बरसों के कठिन श्रम और तप के बाद यह मानसिक संताप और भी दुस्सह हो गया।

सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। मा बैठी पंखा झलती और रोती रही। दूसरे दिन भी वह बेहोश पड़ा रहा। शीतला उसके पास एक क्षण के लिए भी न आई। इन्होंने मुझे कौन सोने के कौर खिला दिये हैं, जो इनकी धौंस सहूँ। यहाँ तो 'जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे बिदेस।' किसी को फूटी कौड़ी नहीं जानती। बहुत ताव दिखाकर तो गये थे। क्या लाद लाये?

संध्या के समय सुरेश को ख़बर मिली। तुरंत दौड़े हुए आये। आज दो महीने के बाद उन्होंने इस घर में क़दम रखा। विमल ने आँखें खोलीं, पहचान गया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुरेश के मुखारविंद पर दया की ज्योति झलक रही थी। विमल ने उनके बारे में जो अनुचित संदेह किया था, उसके लिए वह अपने को धिक्कार रहा था।

शीतला ने ज्यों ही सुना कि सुरेश सिंह आये हैं, तुरंत शीशे के सामने गई, केश छिटका लिये, और विषाद की मूर्ति बनी हुई विमल के कमरे में आई। कहाँ तो विमल की आँखें बंद थीं, मूर्च्छित-सा पड़ा था, कहाँ शीतला के आते ही आँखें खुल गईं। अग्निमय नेत्रों से उसकी ओर देखकर बोला—अभी आई है? आज के तीसरे दिन आना। कुँअर साहब से उस दिन फिर भेंट हो जायगी।

शीतला उलटे पाँव चली गई। सुरेश पर घड़ों पानी पड़ गया।

मन में सोचा—कितना रूप-लावण्य है ; पर कितना विषाक्त ! हृदय की जगह केवल शृंगार-लालसा !

आतंक बढ़ता ही गया। सुरेश ने डॉक्टर बुलवाये। पर मृत्युदेव ने किसी की न मानी। उनका हृदय पाषाण है, किसी भाँति नहीं पसीजता। कोई अपना हृदय निकालकर रख दे, आँसुओं की नदी बहा दे ; पर उन्हें दया नहीं आती। बसे हुए घर को उजाड़ना, लहराती हुई खेती को सुखाना उनका काम है और उनकी निर्दयता कितनी विनोदमय है ! वह नित्य नए रूप बदलते रहते हैं। कभी दामिनी बन जाते हैं, तो कभी पुष्प-माला। कभी सिंह बन जाते हैं, तो कभी सियार। कभी अग्नि के रूप में दिखाई देते हैं, तो कभी जल के रूप में।

तीसरे दिन, पिछली रात को, विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अन्त हो गया। चोर दिन को कभी चोरी नहीं करता। यम के दूत प्रायः रात को ही सबकी नज़रें बचाकर आते हैं, और प्राण-रत्न को चुरा ले जाते हैं। आकाश के फूल मुरझाये हुए थे। वृक्ष-समूह स्थिर थे ; पर शोक में मग्न, सिर झुकाये हुए। रात शोक का बाह्य रूप है। रात मृत्यु का क्रीड़ा-क्षेत्र है। उसी समय विमल के घर से आर्त-नाद सुनाई दिया—वह नाद, जिसे सुनने के लिए मृत्युदेव विकल रहते हैं।

शीतला चौंक पड़ी, और घबराई हुई मरण-शय्या की ओर चली। उसने मृत देह पर निगाह डाली, और भयभीत होकर एक पग पीछे हट गई। उसे जान पड़ा, विमल सिंह उसकी ओर अत्यन्त तीव्र दृष्टि से देख रहे हैं। बुझे हुए दीपक में उसे भयंकर ज्योति दिखाई पड़ी। वह मारे भय के वहाँ ठहर न सकी। द्वार से निकल ही रही थी कि सुरेश सिंह से भेंट हो गई। कातर स्वर में बोली—मुझे यहाँ डर लगता है। उसने चाहा कि रोती हुई इनके पैरों पर गिर पड़ूँ ; पर वह अलग हट गये।

[७]

जब किसी पथिक को चलते-चलते ज्ञात होता है कि मैं रास्ता भूल गया हूँ, तो वह सीधे रास्ते पर आने के लिए बड़े वेग से चलता है। झुँझलाता है कि मैं इतना असावधान क्यों हो गया? सुरेश भी अब शांति-मार्ग पर आने के लिए विकल हो गये। मंगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लगीं। हृदय में वास्तविक सौंदर्योपासना का भाव उदय हुआ। उसमें कितना प्रेम, कितना त्याग था, कितनी क्षमा थी! उसकी अतुल पति-भक्ति को याद करके कभी-कभी वह तड़प जाते। आह! मैंने घोर अत्याचार किया। ऐसे उज्ज्वल रत्न का आदर न किया। मैं यहीं जड़वत् पड़ा रहा, और मेरे सामने ही लक्ष्मी घर से निकल गई। मंगला ने चलते-चलते शीतला से जो बातें कही थीं, वे उन्हें मालूम थीं; पर उन बातों पर विश्वास न होता था। मंगला शांत प्रकृति की थी; वह इतनी उद्दंडता नहीं कर सकती। उसमें क्षमा थी; वह इतना विद्वेष नहीं कर सकती। उनका मन कहता था कि वह जीती है, और कुशल से है। उसके मायकेवालों को कई पत्र लिखे। पर वहाँ व्यंग्य और कटु वाक्यों के सिवा और क्या रखा था? अन्त को उन्होंने लिखा—अब उस रत्न की खोज में मैं स्वयं जाता हूँ। या तो लेकर ही आऊँगा, या कहीं मुँह में कालिख लगाकर डूब मरूँगा।

इस पत्र का उत्तर आया—अच्छी बात है, जाइये, पर यहाँ से होते हुए जाइयेगा, यहाँ से भी कोई आपके साथ चला जायगा।

सुरेश सिंह को इन शब्दों में आशा की झलक दिखाई दी। उसी दिन प्रस्थान कर दिया। किसी को साथ नहीं लिया।

सुसराल में किसी ने उनका प्रेममय स्वागत नहीं किया। सभी के मुँह फूले हुए थे; ससुरजी ने तो उन्हें पति-धर्म पर एक लम्बा उपदेश दिया।

रात को जब वह भोजन करके लेटे, तो छोटी साली आकर बैठ

गई, और मुसकिराकर बोली—जीजाजी, कोई सुन्दरी अपने रूप-हीन पुरुष को छोड़ दे, उसका अपमान करे, तो आप उसे क्या कहेंगे?

सुरेश—(गम्भीर स्वर से) कुटिला!

साली—और ऐसे पुरुष को, जो अपनी रूप-हीन स्त्री को त्याग दे?

सुरेश—पशु!

साली—और जो पुरुष विद्वान् हो?

सुरेश—पिशाच!

साली—(हँसकर) तो मैं भागती हूँ। मुझे आपसे डर लगता है।

सुरेश—पिशाचों का प्रायश्चित्त भी तो स्वीकार हो जाता है।

साली—शर्त यह है कि प्रायश्चित्त सच्चा हो।

सुरेश—यह तो वह अंतर्यामी ही जान सकते हैं।

साली—सच्चा होगा, तो उसका फल भी अवश्य मिलेगा। मगर दीदी को लेकर इधर ही से लौटियेगा।

सुरेश की आशा-नौका फिर डगमगाई। गिड़गिड़ाकर बोले—प्रभा, ईश्वर के लिए मुझ पर दया करो, मैं बहुत दुःखी हूँ। साल भर से ऐसा कोई दिन नहीं गया कि मैं रोकर न सोया होऊँ।

प्रभा ने उठकर कहा—अपने किये का क्या इलाज? जाती हूँ, आराम कीजिये।

एक क्षण में मंगला की माता आकर बैठ गईं, और बोलीं— बेटा, तुमने तो बहुत पढ़ा-लिखा है, देस-बिदेस घूम आये हो, सुंदर बनने की कोई दवा कहीं नहीं देखी?

सुरेश ने विनय-पूर्वक कहा—माताजी, अब ईश्वर के लिए और लज्जित न कीजिये।

माता—तुमने तो मेरी बेटी के प्राण ले लिये! मैं क्या तुम्हें लज्जित करने से भी गई! जी में तो था कि ऐसी-ऐसी सुनाऊँगी कि तुम भी याद करोगे; पर मेरे मेहमान हो, क्या जलाऊँ। आराम करो।

सुरेश आशा और भय की दशा में पड़े करवटें बदल रहे थे कि एकाएक द्वार पर किसी ने धीरे से कहा—जाती क्यों नहीं, जागते तो हैं!

किसी ने जवाब दिया—लाज आती है।

सुरेश ने आवाज़ पहचानी। प्यासे को पानी मिल गया। एक क्षण में मंगला उनके सम्मुख आई, और सिर झुकाकर खड़ी हो गई। सुरेश को उसके मुख पर एक अनूठी छवि दिखाई दी, जैसे कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुका हो।

रूप वही था, पर आँखें और थीं।

कौशल

[१]

पंडित बालकराम शास्त्री की धर्मपत्नी माया को बहुत दिनों से एक हार की लालसा थी और वह सैकड़ों ही बार पण्डितजी से उसके लिए आग्रह कर चुकी थी ; किन्तु पण्डितजी हीला-हवाला करते रहते थे। यह तो साफ़-साफ़ न कहते थे कि मेरे पास रुपए नहीं हैं—इससे उनके पराक्रम में बट्टा लगता था—तर्कणाओं की शरण लिया करते थे। गहनों से कुछ लाभ नहीं, एक तो धातु अच्छी नहीं मिलती, उस पर सोनार रुपए के आठ आने कर देता है, और सबसे बड़ी बात यह कि घर में गहने रखना चोरों को नेवता देना है। घड़ी भर के श्रृङ्गार के लिए इतनी विपत्ति सिर पर लेना मूर्खों का काम है। बेचारी माया तर्क-शास्त्र न पढ़ी थी, इन युक्तियों के सामने निरुत्तर हो जाती थी। पड़ोसिनों को देख-देखकर उसका जी ललचा करता था पर दुःख किससे कहे। यदि पंडितजी ज्यादा मेहनत करने के योग्य होते तो यह मुश्किल आसान हो जाती। पर वे आलसी जीव थे, अधिकांश समय

भोजन और विश्राम में व्यतीत किया करते थे। पत्नीजी की कटूक्तियाँ सुननी मंजूर थीं, लेकिन निद्रा की मात्रा में कमी न कर सकते थे।

एक दिन पंडितजी पाठशाला से आये तो देखा कि माया के गले में सोने का हार विराज रहा है। हार की चमक से उसकी मुख-ज्योति चमक उठी थी। उन्होंने उसे कभी इतनी सुन्दरी न समझा था। पूछा—यह हार किसका है?

माया बोली—पड़ोस में जो बाबू साहब रहते हैं उन्हीं की स्त्री का है। आज उनसे मिलने गई थी, यह हार देखा, बहुत पसन्द आया। तुम्हें दिखाने के लिए पहनकर चली आई। बस, ऐसा ही एक हार मुझे बनवा दो।

पंडित—दूसरे की चीज़ नाहक़ माँग लाईं। कहीं चोरी हो जाय तो हार तो बनवाना ही पड़े, ऊपर से बदनामी भी हो।

माया—मैं तो ऐसा ही हार लूंगी। २० तोले का है।

पंडित—फिर वही ज़िद!

माया—जब सभी पहनती हैं तो मैं ही क्यों न पहनूँ?

पंडित—सब कुएँ में गिर पड़ें तो तुम भी कुएँ में गिर पड़ोगी? सोचो तो, इस वक्त इस हार के बनाने में ६००) लगेंगे। अगर १) प्रति सैकड़ा भी ब्याज रख लिया जाय तो ५ वर्ष में ६००) के लगभग १०००) हो जायेंगे। लेकिन ५ वर्ष में तुम्हारा हार मुश्किल से ३००) का रह जायगा। इतना बड़ा नुक़सान उठाकर हार पहनने में क्या सुख? यह हार वापस कर दो, भोजन करो, और आराम से पड़ी रहो।

यह कहते हुए पंडितजी बाहर चले गये।

रात को एकाएक माया ने शोर मचाकर कहा—चोर! चोर! हाय! घर में चोर! मुझे घसीटे लिये जाते हैं।

पंडितजी हकबकाकर उठे और बोले—कहाँ, कहाँ? दौड़ो, दौड़ो!

माया—मेरी कोठरी में गया है। मैंने उसकी परछाईं देखी।

पंडित—लालटेन लाओ, ज़रा मेरी लकड़ी उठा लेना।

माया—मुझसे तो मारे डर के उठा नहीं जाता।

कई आदमी बाहर से बोले—कहाँ हैं पंडितजी, कोई सेंद पड़ी है क्या?

माया—नहीं नहीं, खपरैल पर से उतरे हैं। मेरी नींद खुली तो कोई मेरे ऊपर झुका हुआ था। हाय राम! यह तो हार ही ले गया! पहने-पहने सो गई थी। मुये ने गले से निकाल लिया। हाय भगवान्!

पंडित—तुमने हार उतार क्यों न दिया था?

माया—मैं क्या जानती थी कि आज ही यह मुसीबत सिर पड़नेवाली है, हाय भगवान्!

पंडित—अब हाय-हाय करने से क्या होगा? अपने कर्मों को रोओ। इसी लिए कहा करता था कि सब घड़ी बराबर नहीं जाती, न-जाने कब क्या हो जाय। अब आई समझ में मेरी बात! देखो और कुछ तो नहीं ले गया?

पड़ोसी लालटेन लिये आ पहुँचे। घर में कोना-कोना देखा।

करियाँ देखीं, छत पर चढ़कर देखा, अगवाड़े-पिछवाड़े देखा, शौचगृह में झाँका, कहीं चोर का पता न था।

एक पड़ोसी—किसी जानकार आदमी का काम है।

दूसरा पड़ोसी—बिना घर के भेदिये के कभी चोरी होती ही नहीं। और कुछ तो नहीं ले गया?

माया—और तो कुछ नहीं गया। बरतन सब पड़े हुए हैं। सन्दूक़ भी बन्द पड़े हुए हैं। निगोड़े को ले ही जाना था तो मेरी चीज़ें ले जाता। पराई चीज़ ठहरी। भगवान्, उन्हें कौन मुँह दिखाऊँगी।

पण्डित—अब गहने का मजा मिल गया न?

माया—हाय भगवान्, यह अपजस बदा था।

पण्डित—कितना समझाके हार गया, तुम न मानीं, न मानीं! बात

की बात में ६००) निकल गये ! अब देखूँ भगवान् कैसे लाज रखते हैं।

माया—अभागे मेरे घर का एक-एक तिनका चुन ले जाते तो मुझे इतना दुःख न होता। अभी बेचारी ने नया ही बनवाया था।

पण्डित—ख़ूब मालूम है, २० तोले का था ?

माया—२० ही तोले का तो कहती थीं।

पण्डित—बधिया बैठ गई और क्या।

माया—कह दूँगी, घर में चोरी हो गई। क्या जान लेंगी ? अब उनके लिए कोई चोरी थोड़े ही करने जायगा !

पंडित—तुम्हारे घर से चीज गई, तुम्हें देनी पड़ेगी। उन्हें इससे क्या प्रयोजन कि चोर ले गया या तुमने उठाके रख लिया। पतियायेंगी ही नहीं।

माया—तो इतने रुपए कहाँ से आयेंगे ?

पण्डित—कहीं न कहीं से तो आयेंगे ही, नहीं तो लाज कैसे रहेगी ; मगर की तुमने बड़ी भूल।

माया—भगवान् से मँगनी की चीज़ भी न देखी गई। मुझे काल ने घेरा था, नहीं तो घड़ी भर गले में डाल लेने से ऐसा कौन-सा बड़ा सुख मिल गया ? मैं हूँ ही अभागिनी।

पंडित—अब पछताने और अपने को कोसने से क्या फ़ायदा ? चुप होके बैठो। पड़ोसिन से कह देना, घबराओ नहीं, तुम्हारी चीज़ जब तक लौटा न देंगे, तब तक हमें चैन न आयेगा।

(४)

पण्डित बालकराम को अब नित्य यही चिन्ता रहने लगी कि किसी तरह हार बने। यों अगर टाट उलट देते तो कोई बात न थी। पड़ोसिन को सन्तोष ही करना पड़ता, ब्राह्मण से डाँड़ कौन लेता ; किन्तु पण्डितजी ब्राह्मणत्व के गौरव को इतने सस्ते दामों न बेचना चाहते थे। आलस्य छोड़कर धनोपार्जन में दत्तचित्त हो गये।

छः महीने तक उन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं जाना। दोपहर को सोना छोड़ दिया। रात को भी बहुत देर तक जागते। पहले केवल एक पाठशाला में पढ़ाया करते थे। इसके सिवा वह ब्राह्मण के लिए खुले हुए एक सौ एक व्यवसायों में सभी को निन्दनीय समझते थे। पर अब पाठशाला से आकर संध्या समय एक जगह 'भागवत की कथा' कहने जाते, वहाँ से लौटकर ११-१२ बजे रात तक जन्म-कुण्डलियाँ, वर्ष-फल आदि बनाया करते। प्रातःकाल मन्दिर में 'दुर्गाजी का पाठ' करते। माया पंडितजी का अध्यवसाय देख-देखकर कभी-कभी पछताती कि कहाँ से कहाँ मैंने यह विपत्ति सिर पर ली। कहीं बीमार पड़ जायें तो लेन के देने पड़ें। उनका शरीर क्षीण होते देखकर उसे अब यह चिन्ता व्यथित करने लगी। यहाँ तक कि पाँच महीने गुज़र गये।

एक दिन संध्या समय वह दिया-बत्ती करने जा रही थी कि पंडितजी आये, जेब से एक पुड़िया निकालकर उसके सामने फेंक दी और बोले—लो, आज तुम्हारे ऋण से मुक्त हो गया।

माया ने पुड़िया खोली तो उसमें सोने का हार था, उसकी चमक-दमक, उसकी सुन्दर बनावट देखकर उसके अन्तस्तल में गुदगुदी-सी होने लगी। मुख पर आनन्द की आभा दौड़ गई। उसने कातर नेत्रों से देखकर पूछा—खुश होकर दे रहे हो या नाराज़ होकर?

पण्डित—इससे क्या मतलब? ऋण तो चुकाना ही पड़ेगा, चाहे खुशी से हो या नाखुशी से!

माया—यह ऋण नहीं है।

पंडित—और क्या है? बदला सही।

माया—बदला भी नहीं है।

पंडित—फिर क्या है।

माया—तुम्हारी...निशानी!

पंडित—तो क्या ऋण के लिए दूसरा हार बनवाना पड़ेगा ?

माया—नहीं नहीं, वह हार चोरी नहीं गया था। मैंने झूठ-मूठ शोर मचाया था।

पंडित—सच ?

माया—हाँ, सच कहती हूँ।

पंडित—मेरी क़सम ?

माया—तुम्हारे चरण छूकर कहती हूँ।

पंडित—तो तुमने मुझसे कौशल किया था ?

माया—हाँ !

पंडित—तुम्हें मालूम है, तुम्हारे कौशल का मुझे क्या मूल्य देना पड़ा ?

माया—क्या ६००) से ऊपर ?

पंडित—बहुत ऊपर ! इसके लिए मुझे अपने आत्मस्वातंत्र्य को बलिदान करना पड़ा है।

सती

दो शताब्दियों से अधिक बीत गये हैं ; पर चिंतादेवी का नाम चला जाता है। बुन्देलखण्ड के एक बीहड़ स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चिन्तादेवी की पूजा करने आते हैं। उस दिन यह निर्जन स्थान सोहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टीकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं। देवी का मन्दिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है। उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखाई देती है। मन्दिर इतना छोटा है कि उसमें मुश्किल से एकसाथ दो आदमी समा सकते हैं। भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी-सी वेदी बनी हुई है। नीचे से मन्दिर तक पत्थर का ज़ीना है। भीड़-भाड़ में धक्का खाकर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिए ज़ीने के दोनो तरफ़ दीवार बनी हुई है। यहीं चिन्तादेवी सती हुई थीं ; पर लोकरीति के अनुसार वह अपने मृत पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं। उनका पति हाथ जोड़े सामने खड़ा था ; पर वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखती थीं। वह पति के शरीर के साथ नहीं,

सकी आत्मा के साथ सती हुई। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।

(२)

यमुना-तट पर कालपी एक छोटा-सा नगर है। चिन्ता उसी नगर के एक वीर बुन्देले की कन्या थी। उसकी माता उसकी बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार चुकी थीं। उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा। वह संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की भी फुरसत न मिलती थी, वे घोड़े की पीठ पर भोजन करते और ज़ीन ही पर झपकियाँ ले लेते थे। चिन्ता का बाल्यकाल पिता के साथ समर-भूमि में कटा। बाप उसे किसी खोह या वृक्ष की आड़ में छिपाकर मैदान में चला जाता। चिन्ता निश्शंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के क़िले बनाती और बिगाड़ती। उसके घरौंदे क़िले होते थे; उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थीं। वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रण-क्षेत्र में खड़ा करती थी। कभी-कभी उसका पिता संध्या समय भी न लौटता; पर चिन्ता को भय छू तक न गया था। निर्जन स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती। उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं। वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ, और वह भी योद्धाओं के मुँह से, सुन-सुनकर वह आदर्शवादिनी बन गई थी।

एक बार तीन दिन तक चिन्ता को अपने पिता की ख़बर न मिली। वह एक पहाड़ की खोह में बैठी मन ही मन एक ऐसा क़िला बना रही थी, जिसे शत्रु किसी भाँति जान न सके। दिन भर वह उसी क़िले का नक़्शा सोचती और रात को उसी क़िले का स्वप्न देखती। तीसरे दिन सन्ध्या समय उसके पिता के कई साथियों ने आकर उसके सामने रोना शुरू किया। चिन्ता ने विस्मित होकर पूछा—दादाजी कहाँ हैं? तुम लोग क्यों रोते हो?

किसी ने इसका उत्तर न दिया। वे ज़ोर से धाड़ें मार-मारकर रोने

लगे। चिन्ता समझ गई कि उसके पिता ने वीर-गति पाई। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख ज़रा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँसकर बोली—अगर उन्होंने वीर-गति पाई, तो तुम लोग रोते क्यों हो? योद्धाओं के लिए इससे बढ़कर और कौन मृत्यु हो सकती है, इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है? यह रोने का नहीं, आनन्द मनाने का अवसर है।

एक सिपाही ने चिन्तित स्वर में कहा—हमें तुम्हारी चिन्ता है। तुम अब कहाँ रहोगी?

चिन्ता ने गंभीरता से कहा—इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो दादा। मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृ-भूमि को शत्रुओं के पंजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिये। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जाकर अपने आदमियों को सँभालिये। मेरे लिए एक घोड़े और हथियारों का प्रबन्ध कर दीजिये। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पायेंगे; लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना, तो तलवार के एक हाथ से इस जीवन का अन्त कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइये, अब विलम्ब न कीजिये।

सिपाहियों को चिन्ता के ये वीर-वचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह सन्देह अवश्य हुआ कि क्या यह कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी?

(३)

पाँच वर्ष बीत गये। समस्त प्रान्त में चिन्तादेवी की धाक बैठ गई। शत्रुओं के क़दम उखड़ गये। वह विजय की सजीव मूर्ति थी, उसे तीरों और गोलियों के सामने निश्शंक खड़े देखकर सिपाहियों को उत्तेजना मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे क़दम पीछे हटाते? जब कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष क़दम पीछे हटायेगा? सुन्दरियों

के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिए आत्म-समर्पण के गुप्त सन्देश हैं, उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिन्ता की छवि-कीर्ति ने मनचले सूरमाओं को चारो ओर से खींच-खींचकर उसकी सेना को सजा दिया—जान पर खेलनेवाले भौंरे चारो ओर से आ-आकर इस फूल पर मँडराने लगे।

इन्हीं योद्धाओं में रत्न सिंह नाम का एक युवक राजपूत भी था।

यों तो चिन्ता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे; बात पर जान देनेवाले, उसके इशारे पर आग में कूदनेवाले, उसकी आज्ञा पाकर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को भी चल पड़ते; किन्तु रत्न सिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिन्ता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्न सिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़, मुँहफट या घमण्डी न था। और लोग अपनी-अपनी कीर्ति को खूब बढ़ा-बढ़ाकर बयान करते। आत्म-प्रशंसा करते हुए उनकी ज़बान न रुकती थी। वे जो कुछ करते, चिन्ता को दिखाने के लिए। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न था, चिन्ता थी। रत्न सिंह जो कुछ करता, शांत भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आवे, उसकी चर्चा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता, संकोच की सीमा से भिड़ गई थी। औरों के प्रेम में विलास था; पर रत्न सिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद सोते थे; पर रत्न सिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था। और सब अपने दिल में समझते थे कि चिन्ता मेरी होगी—केवल रत्न सिंह निराश था, और इसी लिए उसे किसी से न द्वेष था, न राग। औरों को चिन्ता के सामने चहकते देख-कर उसे उनकी वाक्-पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निरा-शांधकार और भी घना होता जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता—क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रखा, जो

रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं ? उसे कौन पूछेगा ? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है ? पर वह मन में झुँझलाकर रह जाता था। दिखावे की उसमें सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। चिन्ता अपने ख़ीमे में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मंज़िल मारने के बाद कुछ खा-पीकर ग़ाफ़िल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल डेरा डाले पड़ा था। चिन्ता उसके आने की ख़बर पाकर भागाभाग चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया था। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने की ख़बर न होगी ; किन्तु यह उसका भ्रम था। उसी की सेना का एक आदमी शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की ख़बरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं। उन्होंने चिन्ता से निश्चिन्त होने के लिए एक षड्यन्त्र रच रखा था—उसकी गुप्त हत्या करने के लिए तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनों हिंस्र पशुओं की भाँति दबे-पाँव जंगल को पार करके आये, और वृक्षों की आड़ में खड़े होकर सोचने लगे कि चिन्ता का ख़ीमा कौन-सा है। सारी सेना बेख़बर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेश-मात्र संदेह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले, और ज़मीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिन्ता के ख़ीमे की ओर चले।

सारी सेना बेख़बर सोती थी, पहरे के सिपाही थककर चूर हो जाने के कारण निद्रा में मग्न हो गये थे। केवल एक प्राणी ख़ीमे के पीछे मारे ठंढ के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यह रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नई बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिन्ता के ख़ीमे के पीछे बैठे-बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पाकर उसने तलवार निकाल ली, और चौंककर उठ खड़ा हुआ। देखा—तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं। अब क्या करे ? अगर शोर मचाता है, तो सेना

में खलबली पड़ जाय, और अँधेरे में लोग एक-दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिड़ने में प्राणों का भय। अधिक सोचने का मौक़ा न था। उसमें योद्धाओं की अविलंब निश्चय कर लेने की शक्ति थी; तुरन्त तलवार खींच ली, और उन तीनों पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा हो गया। उधर वे तीनों आहत होकर गिर पड़े, इधर यह भी ज़ख्मों से चूर होकर अचेत हो गया।

प्रातःकाल चिन्ता उठी, तो चारों जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक्-से हो गया। समीप जाकर देखा—तीनों आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे; पर रत्न सिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गई। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पाई। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद भी न गिरी थी, उन्हीं आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने रत्न सिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयंवर में उसके गले में जयमाला डाल दी।

(४)

महीने भर न रत्न सिंह की आँखें खुलीं, और न चिन्ता की आँखें बंद हुईं। चिन्ता उसके पास से एक क्षण के लिए भी कहीं न जाती। न अपने इलाक़े की परवा थी, न शत्रुओं के बढ़ते चले आने की फ़िक्र। रत्न सिंह पर वह अपनी सारी विभूतियों को बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्न सिंह की आँख खुली। देखा—चारपाई पर पड़ा हुआ है, और चिन्ता सामने पंखा लिये खड़ी है। क्षीण स्वर में बोला—चिन्ता, पंखा मुझे दे दो, तुम्हें कष्ट हो रहा है।

चिन्ता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखंड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस शीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई वह नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देखकर उसके आह्लाद

का पारावार न था। उसने स्नेह-मधुर स्वर में कहा—प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है, तो सुख क्या है, मै नहीं जानती। 'प्राणनाथ!'—इस सम्बोधन में विलक्षण मंत्र की-सी शक्ति थी। रत्न सिंह की आँखें चमक उठीं। जीर्ण मुद्रा प्रदीप्त हो गई, नसों में एक नये जीवन का संचार हो गया, और वह जीवन कितना स्फूर्तिमय था, उसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितनी करुणा थी! रत्न सिंह के अंग-अंग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह सारे संसार को सर कर सकता है, उड़कर आकाश पर पहुँच सकता है, पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिए उसे ऐसी तृप्ति हुई, मानो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं, मानो वह अब किसी से कुछ नहीं चाहता; शायद शिव को सामने खड़े देखकर भी वह मुँह फेर लेगा, कोई वरदान न माँगेगा। उसे अब किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की इच्छा न थी। उसे गर्व हो रहा था, मानो उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा।

चिन्ता अभी अपना वाक्य पूरा न कर पाई थी; उसी प्रसंग में बोली—हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी।

रत्न सिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती।

चिन्ता ने रत्न सिंह को कोमल हाथों से लिटाते हुए कहा—इस सिद्धि के लिए तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे। यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राण-पण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था; लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को

तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ है; मेरा हृदय उसी पुरुष-सिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाज़ी खेल सकता हो। रसिकों के हास-विलास, गुण्डों के रूप-रंग और फिकैतों के दाव-घात का मेरी दृष्टि में रत्तीभर भी मूल्य नहीं। उनकी नट-विद्या को मैं केवल तमाशे की तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया, और तुम्हारी दासी हो गई—आज से नहीं, बहुत दिनों से।

(५)

प्रणय की पहली रात थी। चारों ओर सन्नाटा था। केवल दोनो प्रेमियों के हृदयों में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं। चारों ओर अनुराग-मयी चाँदनी छिटकी हुई थी, और उसकी हास्यमयी छटा में वर और वधू प्रेमालाप कर रहे थे।

सहसा ख़बर आई कि शत्रुओं की एक सेना क़िले की ओर बढ़ी चली आती है। चिन्ता चौंक पड़ी; रत्न सिंह खड़ा हो गया, और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिन्ता ने उसकी ओर कातर स्नेह की दृष्टि से देखकर कहा—कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या ज़रूरत है?

रत्न सिंह ने बंदूक कंधे पर रखते हुए कहा—मुझे भय है कि अबकी वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।

चिन्ता—तो मैं भी चलूँगी।

'नहीं, मुझे आशा है, वे लोग ठहर न सकेंगे। मैं एक ही धावे में उनके क़दम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय-रात्रि विजय-रात्रि हो।'

'न जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता!'

रत्न सिंह ने इस सरल, अनुरक्त आग्रह से विह्वल होकर चिन्ता को गले लगा लिया, और बोले—मैं सवेरे तक लौट आऊँगा प्रिये !

चिन्ता पति के गले में हाथ डालकर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में लौटोगे। मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। जाओ, पर रोज़ ख़बर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ. अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु देखते ही आकुल हो जाते हो, और जान पर खेलकर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देखकर काम करना। जाओ, जिस तरह पीठ दिखाते हो, उसी तरह मुँह दिखाओ।

चिन्ता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था, अब भोग-लालसा की प्रधानता थी। वही वीर-बाला, जो सिंहिनी की तरह गरजकर शत्रुओं के कलेजे कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्न सिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन ही मन देवी की मनौतियाँ कर रही थी। जब तक वह वृक्षों की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही, फिर वह क़िले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ़ गई, और घंटों उसी तरफ़ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों ने कभी का रत्न सिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था ; पर चिन्ता को ऐसा जान पड़ता था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब ऊषा की लोहित छवि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह-विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ, चारों ओर शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज से उतरी, और शय्या पर मुँह ढाँपकर रोने लगी।

(६)

रत्न सिंह के साथ मुश्किल से सौ आदमी थे ; किन्तु सभी मँजे हुए, अवसर और संख्या को तुच्छ समझनेवाले, अपनी जान के दुश्मन। वे

वीरोल्लास से भरे हुए एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए घोड़ों को बढ़ाये चले जाते थे—

'बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।

तेग़-तबर कुछ काम न आवे, बख़्तर-ढाल व्यर्थ हो जावे,

रखियो मन में लाग, सिपाही बाँकी तेरी पाग।

इसकी रखना लाज।'

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों से गूँज रही थीं। घोड़ों की टाप ताल दे रही थीं। यहाँ तक कि रात बीत गई, सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं और इन वीरों पर अपनी स्वर्णच्छटा की वर्षा करने लगा।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नज़र आई।

रत्न सिंह सिर झुकाये, वियोग-व्यथित हृदय को दबाये, मंद गति से पीछे-पीछे चला आता था। क़दम आगे बढ़ता था ; पर मन पीछे हटता था। आज जीवन में पहली बार दुश्चिन्ताओं ने उसे आशंकित कर रखा था। कौन जानता है, लड़ाई का अन्त क्या होगा ! जिस स्वर्ग-सुख को छोड़कर वह आया था, उसकी स्मृतियाँ रह-रहकर उसके हृदय को मसोस रही थीं। चिन्ता की सजल आँखें याद आती थीं, और जी चाहता था, घोड़े को रास पीछे मोड़ दे। प्रतिक्षण रणोत्साह क्षीण होता जाता था, सहसा एक सरदार ने समीप आकर कहा—भैया, वह देखो ऊँची पहाड़ी पर शत्रु डेरे डाले पड़ा है। तुम्हारी अब क्या राय है ? हमारी तो यह इच्छा है कि तुरन्त उन पर धावा कर दें। ग़ाफ़िल पड़े हुए हैं, भाग खड़े होंगे। देर करने से वे भी सँभल जायँगे, और तब मामला नाज़ुक हो जायगा। एक हज़ार से कम न होंगे।

रत्न सिंह ने चिन्तित नेत्रों से शत्रु-दल की ओर देखकर कहा—हाँ, मालूम तो होता है।

सिपाही—तो धावा कर दिया जाय न ?

रत्न०—जैसी तुम्हारी इच्छा। संख्या अधिक है, यह सोच लो।

सिपाही—इसकी परवाह नहीं। हम इससे बड़ी सेनाओं को परास्त कर चुके हैं।

रत्न०—यह सच है ; पर आग में कूदना ठीक नहीं।

सिपाही—भैया, तुम कहते क्या हो ? सिपाही का तो जीवन ही आग में कूदने के लिए है। तुम्हारे हुक्म की देर है, फिर हमारा जीवट देखना।

रत्न०—अभी हम लोग बहुत थके हुए हैं। ज़रा विश्राम कर लेना अच्छा है।

सिपाही—नहीं भैया, उन सबों को हमारी आहट मिल गई, तो ग़ज़ब हो जायगा।

रत्न०—तो फिर धावा ही कर दो।

एक क्षण में योद्धाओं ने घोड़ों की बागें उठा दीं, और सँभाले हुए शत्रु-सेना पर लपके ; किन्तु पहाड़ी पर पहुँचते ही इन लोगों को मालूम हो गया कि शत्रु-दल ग़ाफ़िल नहीं है। इन लोगों ने उनके विषय में जो अनुमान किया था, वह मिथ्या था। वे सजग ही नहीं थे, स्वयं क़िले पर धावा करने की तैयारियाँ कर रहे थे। इन लोगों ने जब उन्हें सामने आते देखा, तो समझ गये—भूल हुई ; लेकिन अब सामना करने के सिवा चारा ही क्या था। फिर भी वे निराश न थे। रत्न सिंह-जैसे कुशल योद्धा के साथ उन्हें कोई शंका न थी। वह इससे भी कठिन अवसरों पर अपने रण-कौशल से विजय-लाभ कर चुका था। क्या आज वह अपना जौहर न दिखायेगा ? सारी आँखें रत्न सिंह को खोज रही थीं ; पर उसका वहाँ कहीं पता न था। कहाँ चला गया ? यह कोई न जानता था।

पर वह कहीं नहीं जा सकता—अपने साथियों को इस कठिन अवस्था में छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता। सम्भव नहीं, अवश्य ही

वह यहीं है, और हारी हुई बाज़ी को जीतने की कोई युक्ति सोच रहा है।

एक क्षण में शत्रु इनके सामने आ पहुँचे। इतनी बहुसंख्यक सेना के सामने ये मुट्ठी भर आदमी क्या कर सकते थे। चारों ओर से रत्न सिंह की पुकार होने लगी—भैया, तुम कहाँ हो? हमें क्या हुक्म देते हो? देखते हो, वे लोग सामने आ पहुँचे; पर तुम अभी तक मौन खड़े हो! सामने आकर हमें मार्ग दिखाओ, हमारा उत्साह बढ़ाओ!

पर अब भी रत्न सिंह न दिखाई दिया। यहाँ तक कि शत्रु-दल सिर पर आ पहुँचा, और दोनो दलों में तलवारें चलने लगीं। बुन्देलों ने प्राण हथेली पर लेकर लड़ना शुरू किया; पर एक को एक बहुत होता है; एक और दस का मुक़ाबला ही क्या? यह लड़ाई न थी, प्राणों का जुआ था। बुन्देलों में निराशा का अलौकिक बल था। खूब लड़े; पर क्या मजाल कि क़दम पीछे हटे। उनमें अब ज़रा भी संगठन न था। जिससे जितना आगे बढ़ते बना, बढ़ा। अन्त क्या होगा, इसकी किसी को चिन्ता न थी। कोई तो शत्रुओं की सफ़ें चीरता हुआ सेनापति के समीप पहुँच गया, कोई उसके हाथी पर चढ़ने की चेष्टा करते मारा गया। उनका अमानुषिक साहस देखकर शत्रुओं के मुँह से भी वाह-वाह निकलती थी; लेकिन ऐसे योद्धाओं ने नाम पाया है, विजय नहीं पाई। एक घण्टे में रंगमंच का परदा गिर गया, तमाशा ख़तम हो गया। एक आँधी थी, जो आई और वृक्षों को उखाड़ती हुई चली गई। संगठित रहकर ये ही मुट्ठी भर आदमी दुशमनों के दाँत खट्टे कर देते; पर जिस पर संगठन का भार था, उसका कहीं पता न था। विजयी मरहठों ने एक-एक लाश ध्यान से देखी। रत्न सिंह उनकी आँखों में खटकता था। उसी पर उनके दाँत लगे थे। रत्न सिंह के जीते-जी उन्हें नींद न आती थी। लोगों ने पहाड़ी की एक-एक चट्टान का मंथन कर डाला; पर रत्न न हाथ आया। विजय हुई; पर अधूरी।

(७)

चिन्ता के हृदय में आज न जाने क्यों भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं। वह कभी इतनी दुर्बल न थी। बुन्देलों की हार ही क्यों होगी, इसका कोई कारण तो वह न बता सकती थी ; पर वह भावना उसके विकल हृदय से किसी तरह न निकलती थी। उस अभागिन के भाग्य में प्रेम का सुख भोगना लिखा होता, तो क्या बचपन ही में मा मर जाती, पिता के साथ वन-वन घूमना पड़ता, खोहों और कन्दराओं में रहना पड़ता ! और वह आश्रय भी तो बहुत दिन न रहा। पिता भी मुँह मोड़कर चल दिये। तब से उसे एक दिन भी तो आराम से बैठना नसीब न हुआ। विधना क्या अब अपना क्रूर कौतुक छोड़ देगा ? आह ! उसके दुर्बल हृदय में इस समय एक विचित्र भावना उत्पन्न हुई—ईश्वर उसके प्रियतम को आज सकुशल लावे, तो वह उसे लेकर किसी दूर के गाँव में जा बसेगी, पति-देव की सेवा और आराधना में जीवन सफल करेगी। इस संग्राम से सदा के लिए मुँह मोड़ लेगी। आज पहली बार नारीत्व का भाव उसके मन में जाग्रत हुआ।

संध्या हो गई थी, सूर्य भगवान् किसी हारे हुए सिपाही की भाँति मस्तक झुकाये कोई आड़ खोज रहे थे। सहसा एक सिपाही नंगे सिर, नंगे पाँव, निश्शस्त्र, उसके सामने आकर खड़ा हो गया। चिन्ता पर वज्रपात हो गया। एक क्षण तक मर्माहत-सी बैठी रही फिर उठकर घबराई हुई सैनिक के पास आई, और आतुर स्वर में पूछा—कौन-कौन बचा ?

सैनिक ने कहा—कोई नहीं।

'कोई नहीं ! कोई नहीं !!'

चिन्ता सिर पकड़कर भूमि पर बैठ गई। सैनिक ने फिर कहा—मरहठे समीप आ पहुँचे।

'समीप आ पहुँचे !'

'बहुत समीप !'

'तो तुरत चिता तैयार करो। समय नहीं है।'

'अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाज़िर ही हैं।'

'तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यहीं अन्त है।'

'क़िला बन्द करके हम महीनों लड़ सकते हैं।'

'तो आकर लड़ो। मेरी लड़ाई अब किसी से नहीं।'

एक ओर अन्धकार प्रकाश को पैरों-तले कुचलता चला आता था, दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतों को; और क़िले में चिता बन रही थी। ज्योंही दीपक जले, चिता में भी आग लगी। सती चिन्ता, सोलहों शृंगार किये अनुपम छवि दिखाती हुई, प्रसन्न-मुख अग्नि-मार्ग से पतिलोक की यात्रा करने जा रही थी।

(८)

चिता के चारों ओर स्त्री और पुरुष जमा थे। शत्रुओं ने क़िले को घेर लिया है, इसकी किसी को फ़िक्र न थी। शोक और संताप से सबके चेहरे उदास और सिर झुके थे। अभी कल इसी आँगन में विवाह का मंडप सजाया गया था। जहाँ इस समय चिता सुलग रही है, वहीं कल हवनकुण्ड था। कल भी इसी भाँति अग्नि की लपटें उठ रही थीं, इसी भाँति लोग जमा थे; पर आज और कल के दृश्यों में कितना अन्तर है! हाँ, स्थूल नेत्रों के लिए अन्तर हो सकता है; पर वास्तव में यह उसी यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसी प्रतिज्ञा का पालन है।

सहसा घोड़े की टापों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। मालूम होता था, कोई सिपाही घोड़े को सरपट भगाता चला आ रहा है। एक क्षण में टापों की आवाज़ बन्द हो गई, और एक सैनिक आँगन में दौड़ा हुआ आ पहुँचा। लोगों ने चकित होकर देखा—यह रत्नसिंह था!

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला—प्रिये, मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला!

चिता में आग लग चुकी थी। चिन्ता की साड़ी से अग्नि की

ज्वाला निकल रही थी। रत्न सिंह उन्मत्त की भाँति चिता में घुस गया, और चिन्ता का हाथ पकड़कर उठाने लगा। लोगों ने चारो ओर से लपक-लपककर चिता की लकड़ियाँ हटानी शुरू कीं ; पर चिन्ता ने पति की ओर आँख उठाकर भी न देखा, केवल हाथों से उसे हट जाने का संकेत किया।

रत्न सिंह सिर पीटकर बोला—हाय, प्रिये! तुम्हें क्या हो गया है, मेरी ओर देखतीं क्यों नहीं, मैं तो जीवित हूँ।

चिता से आवाज़ आई—तुम्हारा नाम रत्न सिंह है, पर तुम मेरे रत्न सिंह नहीं हो।

'तुम मेरी तरफ़ देखो तो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ।'

'मेरे पति ने वीर-गति पाई।'

'हाय! कैसे समझाऊँ! अरे लोगो, किसी भाँति अग्नि को शांत करो। मैं रत्न सिंह ही हूँ प्रिये! क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो?'

अग्नि-शिखा चिन्ता के मुख तक पहुँच गई। अग्नि में कमल खिल गया। चिन्ता स्पष्ट स्वर में बोली—ख़ूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्न सिंह नहीं। मेरा रत्न सिंह सच्चा शूर था। वह आत्म-रक्षा के लिए, इस तुच्छ देह को बचाने के लिए अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्न सिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था, रण-क्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं।

अन्तिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिन्ता के सिर के ऊपर जा पहुँची। फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप-राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्नि-राशि में विलीन हो गई।

रत्न सिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य देखता रहा। फिर अचानक एक ठण्डी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा।

जादू

—

नीला—तुमने उसे क्यों पत्र लिखा ?

मीना—किसको ?

'उसी को ?'

'मैं नहीं समझी ।'

'ख़ूब समझती हो! जिस आदमी ने मेरा अपमान किया, गली-गली मेरा नाम बेचता फिरा, उसे तुम मुँह लगाती हो, क्या यह उचित है ?'

'तुम ग़लत कहती हो !'

'तुमने उसे ख़त नहीं लिखा ?'

'कभी नहीं !'

'तो मेरी ग़लती थी, क्षमा करो । तुम मेरी बहन न होतीं, तो मैं तुमसे यह सवाल भी न पूछती ।'

'मैंने किसी को ख़त नहीं लिखा ।'

'मुझे यह सुनकर ख़ुशी हुई ।'

'तुम मुसकिराती क्यों हो ?'

'मैं !'

'जी हाँ आप !'

'मैं तो ज़रा भी नहीं मुसकिराई ।'

'क्या मैं अन्धी हूँ ?'

'यह तो तुम अपने मुँह से ही कहती हो ।'

'तुम क्यों मुसकिराईं ?'

'मैं सच कहती हूँ, ज़रा भी नहीं मुसकिराई ।'

'मैंने अपनी आँखों देखा ।'

'अब मैं कैसे तुम्हें विश्वास दिलाऊँ ।'

'तुम आँखों में धूल झोंकती हो ।'

'अच्छा, मुसकिराई ! बस, या जान लोगी ?'

'तुम्हें किसी के ऊपर मुसकिराने का क्या अधिकार है ?'

'तेरे पैरों पड़ती हूँ लीला, मेरा गला छोड़ दे । मैं बिलकुल नहीं मुसकिराई ।'

'मैं ऐसी अनीली नहीं हूँ ।'

'यह मैं जानती हूँ ।'

'तुमने मुझे हमेशा झूठी समझा है ।'

'तू आज किसका मुँह देखकर उठी है ?'

'तुम्हारा ।'

'तू मुझे थोड़ी संखिया क्यों नहीं दे देती ?'

'हाँ, मैं तो हत्यारिन हूँ ही ।'

'मैं तो नहीं कहती ।'

'अब और कैसे कहोगी, क्या ढोल बजाकर ? मैं हत्यारिन हूँ, मदमाती हूँ, दीदादिलेर हूँ ; तुम सर्वगुणागरी हो, सीता हो, सावित्री हो । अब खुश हुईं ।'

'लो कहती हूँ, मैंने उन्हें पत्र लिखा । फिर, तुमसे मतलब ? तुम कौन होती हो मुझसे जवाब तलब करनेवाली ?'

'अच्छा किया लिखा, सचमुच मेरी बेवकूफ़ी थी कि मैंने तुमसे पूछा ।'

'हमारी खुशी, हम जिसको चाहेंगे ख़त लिखेंगे, जिससे चाहेंगे बोलेंगे, तुम कौन होती हो रोकनेवाली । तुमसे तो मैं नहीं पूछने जाती हालाँकि रोज़ तुम्हें पुलिन्दों पत्र लिखते देखती हूँ ।'

'जब तुमने शर्म ही भून खाई, तो जो चाहो करो, अख्तियार है ।'

'और तुम कब से बड़ी लज्जावती बन गई ? सोचती होगी अम्माँ से कह दूँगी । यहाँ इसकी परवाह नहीं है । मैंने उन्हें पत्र भी लिखा, उनसे पार्क में मिली भी, बातचीत भी की, जाकर अम्माँ से, दादा से और सारे महल्ले से कह दो ।'

'जो जैसा करेगा, आप भोगेगा, मैं क्यों किसी से कहने जाऊँ ।'

'ओ हो, बड़ी धैर्यवाली ! यह क्यों नहीं कहतीं, अंगूर खट्टे हैं ।'

'जो तुम कहो वही ठीक ।'

'दिल में जली जाती हो ।'

'मेरी बला जले ।'

'रो दो ज़रा ।'

'तुम ख़ुद रोओ, मेरा अँगूठा रोये ।'

'मुझे उन्होंने एक रिष्टवाच भेंट दी है, दिखाऊँ ?'

'मुबारक हो, मेरी आँखों का सनीचर न दूर होगा ।'

'मैं कहती हूँ, तुम इतनी जलती क्यों हो ?'

'अगर मैं तुमसे जलती हूँ, तो मेरी आँखें पट्टम हो जायँ ।'

'तुम जितना ही जलोगी, मैं उतना ही जलाऊँगी ।'

'मैं जलूँगी ही नहीं ।'

'जल रही हो साफ़ !'

'कब सन्देशा आयेगा ?'

'जल मरो !'

'पहले तेरी भाँवरें देख लूँ ।'

'भाँवरों की चाट तुम्हीं को रहती है।'

'अच्छा ! तो क्या बिना भाँवरों का ब्याह होगा ?'

'यह ढकोसले तुम्हें मुबारक रहें, मेरे लिए प्रेम काफ़ी है।'

'तो क्या तू सचमुच...!'

'मैं किसी से नहीं डरती।'

'यहाँ तक नौबत पहुँच गई ! और तू कह रही थी, मैंने उसे पत्र नहीं लिखा और क़समें खा रही थी।'

'क्यों अपने दिल का हाल बतलाऊँ ?'

'मैं तो तुझसे पूछती न थी ; मगर तू आप ही आप बक चली।'

'तुम मुसकिराई क्यों ?'

'इसलिए कि वह शैतान तुम्हारे साथ भी वही दग़ा करेगा, जो उसने मेरे साथ किया। और फिर तुम्हारे विषय में भी वैसी ही बातें कहता फिरेगा। और फिर तुम भी मेरी तरह उसके नाम को रोओगी।'

'तुमसे उन्हें प्रेम नहीं था ?'

'मुझसे ! मेरे पैरों पर सिर रखकर रोता था, और कहता था, मैं मर जाऊँगा और ज़हर खा लूँगा।'

'सच कहती हो ?'

'बिलकुल सच !'

'यही तो वह मुझसे भी कहते हैं।'

'सच ?'

'तुम्हारे सिर की क़सम !'

'और मैं समझ रही थी, अभी वह दाने बिखेर रहा है।'

'क्या वह सचमुच...'

'पक्का शिकारी है।'

मीना सिर पर हाथ रखकर चिन्ता में डूब जाती है।

जेल

—

मृदुला मैजिस्ट्रेट के इजलास से जनाने जेल में वापस आई, तो उसका मुख प्रसन्न था। बरी हो जाने की गुलाबी आशा उसके कपोलों पर चमक रही थी। उसे देखते ही राजनैतिक क़ैदियों के एक गिरोह ने घेर लिया और पूछने लगीं, कितने दिन की हुई?

मृदुला ने विजय-गर्व से कहा—मैंने तो साफ़-साफ़ कह दिया, मैंने धरना नहीं दिया। यों आप ज़बर्दस्त हैं, जो फैसला चाहें, करें। न मैंने किसी को रोका, न पकड़ा, न धक्का दिया, न किसी से आरज़ू-मिन्नत ही की। कोई गाँहक मेरे सामने आया ही नहीं। हाँ, मैं दूकान पर खड़ी ज़रूर थी। वहाँ कई वालंटियर गिरफ़्तार हो गये थे। जनता जमा हो गई थी। मैं भी खड़ी हो गई। बस, थानेदार ने आकर मुझे पकड़ लिया।

क्षमादेवी कुछ क़ानून जानती थीं। बोलीं—मैजिस्ट्रेट पुलीस के बयान पर फैसला करेगा। मैं ऐसे कितने ही मुक़दमे देख चुकी।

मृदुला ने प्रतिवाद किया—पुलीसवालों को मैंने ऐसा रगड़ा, कि

वह भी याद करेंगे। मैं मुक़दमे की कार्रवाई में भाग न लेना चाहती थी; लेकिन जब मैंने उनके गवाहों को सरासर झूठ बोलते देखा, तो मुझसे ज़ब्त न हो सका। मैंने उनसे जिरह करनी शुरू की। मैंने भी इतने दिनों घास नहीं खोदी है। थोड़ा-सा क़ानून जानती हूँ। पुलीस ने समझा होगा, यह कुछ बोलेगी तो है नहीं, हम जो बयान चाहेंगे देंगे। जब मैंने जिरह शुरू की, तो सब बग़लें झाँकने लगे। मैंने तीनों गवाहों को झूठा साबित कर दिया। उस समय जाने कैसे मुझे चोट सूझती गई। मैजिस्ट्रेट ने थानेदार को दो-तीन बार फटकार भी बताई। वह मेरे प्रश्नों का ऊल-जलूल जवाब देता था, तो मैजिस्ट्रेट बोल उठता था—वह जो कुछ पूछती हैं, उसका जवाब दो, फजूल की बातें क्यों करते हो। तब मियाँजी का मुँह ज़रा-सा निकल आता था। मैंने सबों का मुँह बन्द कर दिया। अभी साहब ने फैसला तो नहीं सुनाया; लेकिन मुझे विश्वास है, बरी हो जाऊँगी। मैं जेल से नहीं डरती; लेकिन बेवकूफ़ भी नहीं बनना चाहती। वहाँ हमारे मंत्रीजी भी थे और बहुत-सी बहनें थीं। सब यही कहती थीं, तुम छूट जाओगी।

महिलाएँ उसे द्वेषभरी आँखों से देखती हुई चली गईं। उनमें किसी की मीयाद साल भर की थी, किसी की छः मास की। उन्होंने अदालत के सामने ज़बान ही न खोली थी। उनकी नीति में यह अधर्म से कम न था। मृदुला पुलीस से जिरह करके उनकी नज़रों में गिर गई थी। सज़ा हो जाने पर उसका व्यवहार क्षमा हो सकता था; लेकिन बरी हो जाने में तो उसका कुछ प्रायश्चित्त ही न था।

दूर जाकर एक देवी ने कहा—इस तरह तो हम लोग भी छूट जाते। हमें तो यह दिखाना है, कि नौकरशाही से हमें न्याय की कोई आशा ही नहीं।

दूसरी महिला बोलीं—यह तो क्षमा माँग लेने के बराबर है। गई तो थीं धरना देने, नहीं दूकान पर जाने का काम ही क्या था।

वालंटियर गिरफ़्तार हुए थे, आपकी बला से। आप वहाँ क्यों गईं ; मगर अब कहती हैं, मैं धरना देने गई ही नहीं। यह तो क्षमा माँगना हुआ, साफ़ !

तीसरी देवी मुँह बनाकर बोलीं—जेल में रहने के लिए बड़ा कलेजा चाहिये। उस वक्त तो वाह-वाह लूटने के लिए आ गईं, अब रोना आ रहा है। ऐसी स्त्रियों को तो राष्ट्रीय कामों के नगीच ही न आना चाहिये। आन्दोलन को बदनाम करने से क्या फ़ायदा।

केवल क्षमा देवी अब तक मृदुला के पास चिंता में डूबी खड़ी थीं। उन्होंने एक उद्दंड व्याख्यान देने के अपराध में साल भर की सज़ा पाई थी। दूसरे जिले से एक महीना हुआ यहाँ आई थीं। अभी मीयाद पूरी होने में आठ महीने बाक़ी थे। यहाँ की पन्द्रह कैदियों में किसी से उसका दिल न मिलता था। ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए उनका आपस में झगड़ना, बनाव-सिंगार की चीज़ों के लिए लेडी-वार्डरों की खुशामदें करना, घरवालों से मिलने के लिए व्यग्रता दिखलाना उसे पसन्द न था। वही कुत्सा और कनफुसकियाँ जेल के भीतर भी थीं। वह आत्माभिमान, जो उसके विचार में एक पोलिटिकल क़ैदी में होना चाहिये, किसी में भी न था। क्षमा उन सबों से दूर रहती थी। उसके जाति-प्रेम का वारापार न था। इस रंग में पगी हुई थी ; पर अन्य देवियाँ उसे घमंडिन समझती थीं और उपेक्षा का जवाब उपेक्षा से देती थीं। मृदुला को हिरासत में आये आठ दिन हुए थे। इतने ही दिनों में क्षमा को उससे विशेष स्नेह हो गया था। मृदुला में वह संकीर्णता और ईर्ष्या न थी, न निन्दा करने की आदत, न शृंगार की धुन, न भद्दी दिल्लगी का शौक़। उसके हृदय में करुणा थी, सेवा का भाव था, देश का अनुराग था। क्षमा ने सोचा था, इसके साथ छः महीने आनन्द से कट जायँगे ; लेकिन दुर्भाग्य यहाँ भी उसके पीछे पड़ा हुआ था। कल मृदुला यहाँ से चली जायगी। वह फिर अकेली हो जायगी।

वहाँ ऐसा कौन है, जिसके साथ घड़ी भर बैठकर अपना दुःख-दर्द सुनायेगी, देश-चर्चा करेगी ; यहाँ तो सभी के मिज़ाज आसमान पर हैं।

मृदुला ने पूछा—तुम्हें तो अभी आठ महीने बाक़ी हैं, बहन !

क्षमा ने हसरत के साथ कहा—किसी-न-किसी तरह कट ही जायँगे बहन ; पर तुम्हारी याद बराबर सताती रहेगी। इसी एक सप्ताह के अन्दर तुमने मुझ पर न-जाने क्या जादू कर दिया। जब से तुम आई हो, मुझे जेल, जेल न मालूम होता था। कभी-कभी मिलती रहना।

मृदुला ने देखा, क्षमा की आँखें डबडबाई हुई थीं। ढारस देती हुई बोली—ज़रूर मिलूँगी दीदी। मुझसे तो खुद न रहा जायगा। भान को भी लाऊँगी। कहूँगी—चल तेरी मौसी आई है, तुझे बुला रही है। दौड़ा हुआ आयेगा। अब तुमसे आज कहती हूँ बहन, मुझे यहाँ किसी की याद आती थी, तो भान की। बेचारा रोया करता होगा। मुझे देखकर रूठ जायगा। तुम कहाँ चली गई ? मुझे छोड़कर क्यों चली गई ? जाओ मैं तुमसे नहीं बोलता। तुम मेरे घर से निकल जाओ। बड़ा शैतान है बहन। छन-भर निचला नहीं बैठता, सवेरे उठते ही गाता है—'झन्ना ऊँता लये अमाला', 'छोलाज का मंदिल देल में है।' जब एक झंडी कंधे पर रखकर कहता है—ताली-छलाब पीना हलाम है, तो देखते ही बनता है। बाप को तो कहता है—तुम गुलाम हो। वह एक अँग्रेज़ी कम्पनी में हैं। बार-बार इस्तीफ़ा देने का विचार करके रह जाते हैं ; लेकिन गुज़र-बसर के लिए कोई उद्दम करना ही पड़ेगा। कैसे छोड़ें। वह तो छोड़ बैठे होते। तुमसे सच कहती हूँ, गुलामी से उन्हें घृणा है ; लेकिन मैं ही समझाती रहती हूँ। बेचारे कैसे दफ़्तर जाते होंगे, कैसे भान को सँभालते होंगे। सासजी के पास तो रहता ही नहीं। वह बेचारी बूढ़ी, उसके साथ कहाँ-कहाँ दौड़ें ! चाहती हैं, कि मेरी गोद में दबककर बैठा रहे। और भान को गोद से

चिढ़ है। अम्माँ मुझ पर बहुत बिगड़ेंगी, बस यही डर लग रहा है। मुझे देखने एक बार भी नहीं आईं। कल अदालत में बाबूजी मुझसे कहते थे, तुमसे बहुत खफ़ा हैं। तीन दिन तक तो दाना-पानी छोड़े रहीं। इस छोकरी ने कुल-मरजाद डुबा दी, ख़ानदान में दाग लगा दिया, कलमुँही, कुलच्छनी, न जाने क्या-क्या बकती रहीं। मैं तो उनकी बातों को बुरा नहीं मानती। पुराने ज़माने की हैं। उन्हें कोई चाहे कि आकर हम लोगों में मिल जायँ, तो यह उसका अन्याय है। चलकर मनाना पड़ेगा। बड़ी मिन्नतों से मानेंगी। कल ही कथा होगी, देख लेना। ब्राह्मण खायेंगे। बिरादरी जमा होगी। जेल का प्रायश्चित्त तो करना ही पड़ेगा। तुम हमारे घर दो-चार दिन रहकर तब जाना बहन। मैं आकर तुम्हें ले जाऊँगी।

क्षमा आनन्द के इन प्रसंगों से वंचित है। वह विधवा है, अकेली है। जलियानवाले बाग़ में उसका सर्वस्व लुट चुका है, पति और पुत्र दोनो ही की आहुति दी जा चुकी है। अब कोई ऐसा नहीं, जिसे वह अपना कह सके। अभी उसका हृदय इतना विशाल नहीं हुआ है, कि प्राणी-मात्र को अपना समझ सके। इन दस बरसों से उसका व्यथित हृदय जाति-सेवा में धैर्य और शान्ति को खोज रहा है। जिन कारणों ने उसके बसे हुए घर को उजाड़ दिया, उसकी गोद सूनी कर दी, उन कारणों का अंत करने—उनको मिटाने—में वह जी-जान से लगी हुई थी। बड़े से बड़े बलिदान तो वह पहले ही कर चुकी थी। अब अपने हृदय के सिवा उसके पास होम करने को और क्या रह गया था? औरों के लिए जाति-सेवा सभ्यता का एक संस्कार हो, या यशोपार्जन का एक साधन; क्षमा के लिए तो यह तपस्या थी, और वह नारीत्व की सारी शक्ति और श्रद्धा की साधना में लगी हुई थी; लेकिन आकाश में उड़नेवाले पक्षी को भी तो अपने बसेरे की याद आती ही है। क्षमा के लिए वह आश्रय कहाँ था? यही वह अवसर थे, जब क्षमा भी आत्म-समवे-

दना के लिए आकुल हो जाती थी। यहाँ मृदुला को पाकर वह अपने को धन्य मान रही थी ; पर यह छाँह भी इतनी जल्द हट गई !

क्षमा ने व्यथित कंठ से कहा—यहाँ से जाकर भूल जाओगी मृदुला। तुम्हारे लिए तो यह रेलगाड़ी का परिचय और मेरे लिए तुम्हारे वादे उसी परिचय के वादे हैं। कभी कहीं भेंट हो जायगी, तो या तो पहचानोगी ही नहीं, या ज़रा मुसकिराकर नमस्ते करती हुई अपनी राह चली जाओगी। यही दुनिया का दस्तूर है। अपने रोने से छुट्टी ही नहीं मिलती, दूसरों के लिए कोई क्योंकर रोये। तुम्हारे लिए तो मैं कुछ नहीं थी, मेरे लिए तुम बहुत कुछ थीं। मगर अपने प्रिय-जनों में बैठकर कभी-कभी इस अभागिनी को ज़रूर याद कर लिया करना। भिखारी के लिए चुटकी भर आटा ही बहुत है।

दूसरे दिन मैजिस्ट्रेट ने फैसला सुना दिया। मृदुला बरी हो गई। संध्या समय वह सब बहनों से गले मिलकर, रोकर, रुलाकर, चली गई, मानो मैके से बिदा हुई हो।

(२)

तीन महीने बीत गये ; पर मृदुला एक बार भी न आई। और क़ैदियों से मिलनेवाले आते रहते थे, किसी-किसी के घर से खाने-पीने की चीज़ें और सौग़ातें आ जाती थीं ; लेकिन क्षमा का पूछनेवाला कौन बैठा था ? हर महीने के अंतिम रविवार को वह प्रातःकाल से ही मृदुला की बाट जोहने लगती। जब मुलाक़ात का समय निकल जाता, तो ज़रा देर रोकर मन को समझा लेती ; ज़माने का यही दस्तूर है !

एक दिन शाम को क्षमा संध्या करके उठी थी, कि देखा, मृदुला सामने चली आ रही है। न वह रूप-रंग है, न वह कांति। दौड़कर उसके गले से लिपट गई और रोती हुई बोली—यह तेरी क्या दशा है मृदुला ! सूरत ही बदल गई। क्या बीमार है क्या ?

मृदुला की आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। बोली—

बीमार तो नहीं हूँ बहन। विपत्ति से बिंधी हुई हूँ। तुम मुझे ख़ूब कोस रही होगी। उन सारी निठुराइयों का प्रायश्चित्त करने आई हूँ। और सब चिंताओं से मुक्त होकर आई हूँ।

क्षमा काँप उठी। अंतस्तल की गहराइयों से एक लहर-सी उठती हुई जान पड़ी, जिसमें उसका अपना अतीत जीवन टूटी हुई नौकाओं की भाँति उतराता हुआ दिखाई दिया। रुँधे हुए कण्ठ से बोली—कुशल तो है बहन, इतनी जल्द तुम यहाँ फिर क्यों आ गईं? अभी तो तीन महीने भी नहीं हुए।

मृदुला मुसकिराई; पर उसकी मुसकिराहट में रुदन छिपा हुआ था। फिर बोली—अब सब कुशल है बहन, सदा के लिए कुशल है। कोई चिन्ता ही नहीं रही। अब यहाँ जीवन-पर्यंत रहने को तैयार हूँ। तुम्हारे स्नेह और कृपा का मूल्य अब समझ रही हूँ।

उसने एक ठंडी साँस ली और सजल नेत्रों से बोली—तुम्हें बाहर की ख़बरें क्या मिली होंगी। परसों शहर में गोलियाँ चलीं। देहातों में आजकल संगीनों की नोक से लगान वसूल किया जा रहा है। किसानों के पास रुपए हैं नहीं, दें तो कहाँ से दें। अनाज का भाव दिन-दिन गिरता जाता है। पौने दो रुपए में मन भर गेहूँ आता है। मेरी उम्र ही अभी क्या है, अम्माँजी भी कहती हैं कि अनाज इतना सस्ता कभी नहीं था। खेत की उपज से बीजों तक के दाम नहीं आते। मेहनत और सिंचाई इसके ऊपर। ग़रीब किसान लगान कहाँ से दें। उस पर सरकार का हुक्म है, कि लगान कड़ाई के साथ वसूल किया जाय। किसान इस पर भी राज़ी हैं, कि हमारी जमा-जत्था नीलाम कर लो, घर कुर्क कर लो, अपनी ज़मीन ले लो; मगर यहाँ तो अधिकारियों को अपनी कारगुज़ारी दिखाने की फ़िक्र पड़ी हुई है। वह चाहे प्रजा को चक्की में पीस ही क्यों न डालें, सरकार उन्हें मना न करेगी। मैंने सुना है, कि वह उलटे और शह देती है। सरकार

को तो अपने कर से मतलब है। प्रजा मरे या जिये, उससे कोई प्रयोजन नहीं। अकसर ज़मींदारों ने तो लगान वसूल करने से इन्कार कर दिया है। अब पुलीस उनकी मदद पर भेजी गई है। भैरोगंज का सारा इलाका लूटा जा रहा है। मरता क्या न करता, किसान भी घर-बार छोड़-छोड़कर भागे जा रहे हैं। एक किसान के घर में घुसकर कई कांसटेबलों ने उसे पीटना शुरू किया। बेचारा बैठा मार खाता रहा। उसकी स्त्री से न रहा गया। शामत की मारी कांसटेबलों को कुवचन कहने लगी। बस, एक सिपाही ने उसे नंगा कर दिया। क्या कहूँ बहन! कहते शर्म आती है। हमारे ही भाई इतनी निर्दयता करें, इससे ज्यादा दुःख और लज्जा की और क्या बात होगी? अब किसान से जब्त न हुआ। कभी पेट भर गरीबों को खाने को तो मिलता नहीं, इस पर इतना कठोर परिश्रम! न देह में बल है, न दिल में हिम्मत; पर मनुष्य का हृदय ही तो ठहरा। बेचारा बेदम पड़ा हुआ था। स्त्री का चिल्लाना सुनकर उठ बैठा और उस दुष्ट सिपाही को धक्का देकर ज़मीन पर गिरा दिया। फिर दोनो में कुश्तमकुश्ती होने लगी। एक किसान किसी पुलीस के आदमी के साथ इतनी बेअदबी करे, इसे भला वह कहीं बरदाश्त कर सकती है। सब कांसटेबलों ने ग़रीब को इतना मारा, कि वह मर गया।

क्षमा ने कहा—गाँव के और लोग तमाशा देखते रहे होंगे?

मृदुला तीव्र कंठ से बोली—बहन, प्रजा की तो हर तरह से मरन है। अगर दस-बीस आदमी जमा हो जाते, तो पुलीस कहती, हमसे लड़ने आये हैं। डंडे चलाने शुरू करती और अगर कोई आदमी क्रोध में आकर एकाध कंकड़ फेंक देता, तो गोलियाँ चला देती: दस-बीस आदमी भुन जाते। इसी लिए लोग जमा नहीं होते; लेकिन जब वह किसान मर गया, तो गाँववालों को तैश आ गया। लाठियाँ ले-लेकर दौड़ पड़े और कांसटेबलों को घेर लिया। संभव है, दो-चार आदमियों

ने लाठियाँ चलाई भी हों। कांस्टेबलों ने गोलियाँ चलानी शुरू कीं। दो-तीन सिपाहियों के हलकी चोटें आई। उसके बदले में बारह आदमियों की जानें ले ली गईं और कितनों ही के अंग भंग कर दिये गये। इन छोटे-छोटे आदमियों को इसी लिए तो इतने अधिकार दिये गये हैं, कि वे उनका दुरुपयोग करें। आधे गाँव का क़त्लाम करके पुलीस विजय के नगाड़े बजाती हुई लौट गई। गाँववालों की फ़रियाद कौन सुनता। ग़रीब हैं, बेकस हैं, अपंग हैं, जितने आदमियों को चाहो, मार डालो। अदालत और हाकिमों से तो उन्होंने न्याय की आशा करना ही छोड़ दिया। आख़िर सरकार ही ने तो कांसटेबलों को यह मुहिम सर करने के लिए भेजा था। वह किसानों की फ़रियाद क्यों सुनने लगी। मगर आदमी का दिल फ़रियाद किये बग़ैर नहीं मानता। गाँववालों ने अपने शहर के भाइयों से फ़रियाद करने का निश्चय किया। जनता और कुछ नहीं कर सकती, हमदर्दी तो करती है। दुःख-कथा सुनकर आँसू तो बहाती है। दुखियारों को हमदर्दी के आँसू भी कम प्यारे नहीं होते। अगर आस-पास के गाँवों के लोग जमा होकर उनके साथ रो लेते, तो ग़रीबों के आँसू पुँछ जाते; किन्तु पुलीस ने उस गाँव की नाकेबंदी कर रखी थी, चारो सीमाओं पर पहरे बिठा दिये गये थे। यह घाव पर नमक था। मारते भी हो और रोने भी नहीं देते। आख़िर लोगों ने लाशें उठाईं और शहरवालों को अपनी विपत्ति की कथा सुनाने चले। इस हंगामे की ख़बर पहले ही शहर में पहुँच गई थी। इन लाशों को देखकर जनता उत्तेजित हो गई और जब पुलीस के अध्यक्ष ने इन लाशों का जुलूस निकालने की अनुमति न दी, तो लोग और भी झल्लाये। बहुत बड़ा जमाव हो गया। मेरे बाबूजी भी इसी दल में थे। समझाती रही— मत जाओ, आज का रंग अच्छा नहीं है। कहने लगे—मैं किसी से लड़ने थोड़े ही जाता हूँ। जब सरकार की आज्ञा के विरुद्ध जनाज़ा चला तो पचास हज़ार आदमी साथ थे। उधर

पाँच सौ सशस्त्र पुलीस रास्ता रोके खड़ी थी—सवार, प्यादे, सारजन्ट—पूरी फौज थी। हम निहत्थों के सामने इन नामर्दों को तलवारें चमकाते और झंकारते शर्म भी नहीं आती! जब बार-बार पुलीस की धमकियों पर भी लोग न भागे, तो गोलियाँ चलाने का हुक्म हो गया। घंटे भर बराबर फैर होते रहे, पूरे घंटे भर तक! कितने मरे, कितने घायल हुए, कौन जानता है। मेरा मकान सड़क पर है। मैं छज्जे पर खड़ी, दोनो हाथों से दिल को थामे, काँपती थी। पहली बाढ़ चलते ही भगदड़ पड़ गई। हज़ारों आदमी बदहवास भागे चले आ रहे थे। बहन! वह दृश्य अभी तक आँखों के सामने है। कितना भीषण, कितना रोमांचकारी और कितना लज्जास्पद! ऐसा जान पड़ता था, कि लोगों के प्राण आँखों से निकले पड़ते हैं; मगर इन भागनेवालों के पीछे वीरव्रतधारियों का दल था, जो पर्वत की भाँति अटल खड़ा छातियों पर गोलियाँ खा रहा था और पीछे हटने का नाम न लेता था। बन्दूकों की आवाज़ें साफ़ सुनाई देती थीं और हरेक धायँ-धायँ के बाद हज़ारों गलों से 'जय' की गहरी गगन-भेदी ध्वनि निकलती थी। उस ध्वनि में कितनी उत्तेजना थी! कितना आकर्षण! कितना उन्माद! बस यही जी चाहता था, कि जाकर गोलियों के सामने खड़ी हो जाऊँ और हँसते-हँसते मर जाऊँ। उस समय ऐसा भास होता था, कि मर जाना कोई खेल है। अम्माँजी कमरे में भान को लिये मुझे बार-बार भीतर बुला रही थीं। जब मैं न गई, तो वह भान को लिये हुए छज्जे पर आ गईं। उसी वक्त दस-बारह आदमी एक स्ट्रेचर पर हृदयेश की लाश लिये हुए द्वार पर आये। अम्माँ की उन पर नज़र पड़ी। समझ गईं। मुझे तो सकता-सा हो गया। अम्माँ ने जाकर एक बार बेटे को देखा, उसे छाती से लगाया, चूमा, आशीर्वाद दिया और उन्मत्त दशा में चौरस्ते की तरफ़ चलीं, जहाँ से अब भी धाँय और जय की ध्वनि बारी-बारी से आ रही थी। मैं हतबुद्धि-

सी खड़ी कभी स्वामी की लाश को देखती थी, कभी अम्माँ को। न कुछ बोली, न जगह से हिली, न रोई, न घबड़ाई। मुझमें जैसे स्पन्दन ही न था। चेतना जैसे लुप्त हो गई हो।

क्षमा—तो क्या अम्माँ भी गोलियों के स्थान पर पहुँच गईं?

मृदुला—हाँ, यही तो विचित्रता है बहन। बंदूक की आवाज़ सुनकर कानों पर हाथ रख लेती थीं। खून देखकर मूर्छित हो जाती थीं। वही अम्माँ वीर सत्याग्रहियों की सफ़ों को चीरती हुई सामने खड़ी हो गईं और एक ही क्षण में उनकी लाश भी जमीन पर गिर पड़ी। उनके गिरते ही योद्धाओं का धैर्य टूट गया, व्रत का बन्धन टूट गया। सभी के सिरों पर खून-सा सवार हो गया। निहत्थे थे, अशक्त थे; पर हरेक अपने अन्दर अपार शक्ति का अनुभव कर रहा था। पुलीस पर धावा कर दिया। सिपाहियों ने इस बाढ़ को आते देखा तो होश जाते रहे। जानें लेकर भागे; मगर भागते हुए भी गोलियाँ चलाते जाते थे। भान छुज्जे पर खड़ा था, न-जाने किधर से एक गोली आ उसकी छाती में लगी। मेरा लाल वहीं पर गिर पड़ा, साँस तक न ली; मगर मेरी आँखों में अब भी आँसू न थे। मैंने प्यारे भान को गोद में उठा लिया। उसकी छाती से खून के फौवारे निकल रहे थे। मैंने उसे जो दूध पिलाया था, उसे वह खून से अदा कर रहा था। उसके खून से तर कपड़े पहने हुए मुझे वह नशा हो रहा था, जो शायद उसके विवाह में गुलाल से तर रेशमी कपड़े पहनकर भी न होता। लड़कपन, जवानी और मौत! तीनो मंज़िलें एक ही हिचकी में तमाम हो गईं। मैंने बेटे को बाप की गोद में लेटा दिया। इतने ही में कई स्वयंसेवक अम्माँजी को भी लाये। मालूम होता था, लेटी हुई मुस-किरा रही हैं। मुझे तो रोकती रहती थीं और खुद इस तरह जाकर आग में कूद पड़ीं, मानो वह स्वर्ग का मार्ग हो। बेटे ही के लिए जीती थीं, बेटे को अकेले कैसे छोड़तीं?

जब नदी के किनारे तीनो लाशें एक ही चिता में रखी गईं, तब मेरा सकता टूटा, होश आया। एक बार जी में आया चिता में जा बैठूँ। सारा कुन्बा एक साथ ईश्वर के दरबार में जा पहुँचे; लेकिन फिर सोचा—तूने अभी ऐसा कौन-सा काम किया है, जिसका इतना ऊँचा पुरस्कार मिले? बहन! चिता की लपटों में मुझे ऐसा मालूम हो रहा था, कि अम्माँजी सचमुच भान को गोद में लिये बैठी मुसकिरा रही हैं, और स्वामीजी खड़े मुझसे कह रहे हैं, तुम जाओ और निश्चिन्त होकर काम करो। उनके मुख पर कितना तेज था! रक्त और अग्नि ही में तो देवता बनते हैं।

मैंने सिर उठाकर देखा। नदी के किनारे न-जाने कितनी चिताएँ जल रही थीं। दूर से ये चितावली ऐसी मालूम होती थीं, मानो देवताओं ने भारत का भाग्य गढ़ने के लिए भट्टियाँ जलाई हों।

जब चिताएँ राख हो गईं, तो हम लोग लौटे; लेकिन उस घर में जाने की हिम्मत न पड़ी। मेरे लिए अब वह घर न था। मेरा घर तो अब यह है, जहाँ बैठी हूँ, या फिर वही चिता। मैंने घर का द्वार भी नहीं खोला। महिला-आश्रम में चली गई। कल की गोलियों में कांग्रेस-कमेटी का सफ़ाया हो गया था। यह संस्था बाग़ी बना डाली गई थी। उसके दफ़्तर पर पुलिस ने छापा मारा और उस पर अपना ताला डाल दिया। महिला-आश्रम पर भी हमला हुआ। उस पर भी ताला डाल दिया गया। हमने एक वृक्ष की छाँह में अपना नया दफ़्तर बनाया और स्वच्छन्दता के साथ काम करते रहे। यहाँ दीवारें हमें क़ैद न कर सकती थीं। हम भी वायु के समान मुक्त थे।

संध्या समय हमने एक जुलूस निकालने का फैसला किया। कल के रक्तपात की स्मृति, हर्ष और मुबारकबाद में जुलूस निकालना आवश्यक था। लोग कहते हैं, जुलूस निकालने से क्या होता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि हम जीवित हैं, अटल हैं और मैदान से हटे

नहीं हैं। हमें अपने हार न माननेवाले आत्माभिमान का प्रमाण देना था। हमें यह दिखाना था, कि हम गोलियों और अत्याचारों से भय-भीत होकर अपने लक्ष्य से हटनेवाले नहीं और हम उस व्यवस्था का अन्त करके रहेंगे, जिसका आधार स्वार्थपरता और खून पर है। उधर पुलीस ने भी जुलूस को रोककर अपनी शक्ति और विजय का प्रमाण देना आवश्यक समझा। शायद जनता को धोखा हो गया हो, कि कल की दुर्घटना ने नौकरशाही के नैतिक ज्ञान को जागृत कर दिया है। इस धोखे को दूर करना उसने अपना कर्तव्य समझा। वह यह दिखा देना चाहती थी, कि हम तुम्हारे ऊपर शासन करने आये हैं और शासन करेंगे। तुम्हारी खुशी या नाराज़ी की हमें परवा नहीं है। जुलूस निकालने की मनाही हो गई। जनता को चेतावनी दे दी गई, कि ख़बरदार, जुलूस में न आना, नहीं दुर्गति होगी। इसका जनता ने वह जवाब दिया, जिसने अधिकारियों की आँखें खोल दी होंगी। संध्या समय पचास हज़ार आदमी जमा हो गये। आज का नेतृत्व मुझे सौंपा गया था। मैं अपने हृदय में एक विचित्र बल और उत्साह का अनुभव कर रही थी। एक अबला स्त्री, जिसे संसार का कुछ भी ज्ञान नहीं, जिसने कभी घर से बाहर पाँव नहीं निकाला, आज अपने प्यारों के उत्सर्ग की बदौलत उस महान् पद पर पहुँच गई थी, जो बड़े-बड़े अफ़सर को भी, बड़े से बड़े महाराजा को भी प्राप्त नहीं—मैं इस समय जनता के हृदय पर राज कर रही थी। पुलीस अधिकारियों की इसलिए गुलामी करती है, कि उसे वेतन मिलता है। पेट की गुलामी उससे सब कुछ करवा लेती है। महाराजा का हुक्म लोग इसलिए मानते हैं, कि उससे उपकार की आशा या हानि का भय होता है। यह अपार जन-समूह क्या मुझसे किसी फ़ायदे की आशा रखता था, या उसे मुझसे किसी हानि का भय था? कदापि नहीं। फिर भी वह मेरे कड़े से कड़े हुक्म को मानने के लिए तैयार था। इसी लिए कि

जनता मेरे बलिदानों का आदर करती थी ; इसी लिए कि उनके दिलों में स्वाधीनता की जो तड़प थी, गुलामी की जंजीरों को तोड़ देने की जो बेचैनी थी, मैं उस तड़प और बेचैनी की सजीव मूर्ति समझी जा रही थी। निश्चित समय पर जुलूस ने प्रस्थान किया। उसी वक्त पुलीस ने मेरी गिरफ़्तारी का वारंट दिखाया। वारंट देखते ही तुम्हारी याद आई। पहले तुम्हें मेरी ज़रूरत थी। अब मुझे तुम्हारी ज़रूरत है। उस वक्त तुम मेरी हमदर्दी की भूखी थीं, अब मैं तुमसे सहानुभूति की भिक्षा माँग रही हूँ। मगर मुझमें अब लेशमात्र भी दुर्बलता नहीं है। मैं चिन्ताओं से मुक्त हूँ। मैजिस्ट्रेट जो कठोर से कठोर दंड प्रदान करे, उसका स्वागत करूँगी। अब मैं पुलीस के किसी आक्षेप या असत्य आरोपण का प्रतिवाद न करूँगी ; क्योंकि मैं जानती हूँ, मैं जेल के बाहर रहकर जो कुछ कर सकती हूँ जेल के अन्दर रहकर उससे कहीं ज्यादा कर सकती हूँ। जेल के बाहर भूलों की संभावना है, बहकने का भय है, समझौते का प्रलोभन है, स्पर्द्धा की चिन्ता है। जेल सम्मान और भक्ति की एक रेखा है, जिसके भीतर शैतान क़दम नहीं रख सकता। मैदान में जलता हुआ अलाव वायु में अपनी उष्णता को खो देता है ; लेकिन इञ्जिन में बन्द होकर वही आग संचालन-शक्ति का अखण्ड भण्डार बन जाती है।

अन्य देवियाँ भी आ पहुँचीं और मृदुला सबसे गले मिलने लगी। फिर 'भारत माता की जय'-ध्वनि जेल की दीवारों को चीरती हुई आकाश में जा पहुँची।